(विष्णु भगवान्)

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८१

गीतावार्त्ता (१३)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृत वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित मूल्य २-०-रुपया

प्रथम संस्करण]
१००० प्रति]

माघ
२०२७

[मू० १ ६५ पै०

विषय-सूची

विषय | पृष्ठाङ्क

संस्मरण

[१]

प्रियसखि निपद्दण्डव्रातप्रतापपरम्पराति—
परिचपले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः ॥
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्—
भ्रमयति नो मनो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥*

(श्री भर्तृहरि, वै० श० ६८ श्लो०)

छप्पय

धृष्ट कुलाल समान नचावत दुष्ट विधाता ।
प्रिय सखि ! विपति समूह दण्ड फेरत विख्याता ॥
चिन्ता चक्र चलाइ मृत्तिका पिंड बनावै ।
लौंदा मनहिं लगाइ घुमावै मन हरषावै ॥
दुरगति हमरी ह्वै गई, अब घट कब तक पकैगो ?
जाने यह खल विधाता, अब आगे का करैगो ??

---

* हे प्रियसखि ! यह विधाता धृष्ट कुम्हार के समान है । चिन्ता रूप अपने चक्र पर मिट्टी के पिंड बना-बनाकर मनरूपी लौंदा को विपत्तियों के समूह रूप जो डंडा है, उस डंडे से परम्परानुसार घुमा रहा है । अब पता नहीं आगे क्या होगा ? इस लौंदे से विधाता न जाने आगे कौन सा बतन बनावेगा ?

मेरे परिचित स्नेही बन्धु कहते हैं—"महाराज ! अपना एक जीवन चरित्र लिख दो। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई लिख नहीं सकता।"

मैं कहता हूँ, चरित्र तो चरित्रवानों के लिखे जाते हैं। जो जिस किसी प्रकार जीवन बिता रहे हैं, कालक्षेप कर रहे हैं, उनका क्या जीवन चरित्र ? उनका तो एक मात्र यही चरित्र है।

सुबह होता है, शाम होती है।
जिन्दगी यों ही, तमाम होती है॥

जिनका जीवन खाने-पीने, पहनने, ओढ़ने तथा शरीर के पालन पोषण में ही व्यतीत होता है, उनका तो जीवन सामान्य है, एक कवि ने कहा है—

पैदा हुए पढ़ने गये, कालिज गये।
नौकर हुए पेंसिन हुई फिरि मर गये॥

ऐसे लोगों के जीवन चरित्र से न जनता को ही लाभ हुआ न तुम्हारा ही कोई काम हो सका। अतः जो विशुद्ध चरित्र वाले परोपकारी हो, जिन्होंने सेवा करके समाज का कल्याण किया हो, उनके जीवन से आगे की पीढ़ी के लोग-लाभ उठा सकते हैं। उनका जीवन चरित्र लिखना सार्थक है। हम जैसे अहरे गहरे पचकल्यानियों का जीवन ही क्या ? और जीवन का चरित वृत्त ही क्या ? वैसे चरित्रवानो के चरित्र वृत्त से बड़ी प्रेरणा मिलती है, महाभारत, रामायण तथा पुराण सब महत् पुरुषों के चरित्र-वृत्त ही तो हैं।

कुछ बन्धुओं ने कहा—"अच्छा, क्रमबद्ध चरित्र न सही, अपने जीवन के सुखद संस्मरण ही लिख दो।" तब मैंने कहा—देखो, भाई भर्तृहरि जी ने कहा है—

आयुर्वर्षशत नृणा परिमित रात्रौ तदर्धं गतम् ।
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरे बालत्वं वृद्धत्वयोः ॥
शेष व्याधिवियोगदु खसहित सेवादिभिर्नीयते ।
जीवे वारितरगचचलतरे सौख्य कुतः प्राणिनाम् ॥

(श्री भर्तृहरि वै०श० १०७ श्लोक)

वेसे आजकल सौ सवा सो वर्ष के कोई विरले ही स्त्री पुरुष होते हैं । प्राय ६ वर्ष के हो गये तो बहुत हुए कोई कोई ८० तक भी पहुँच जाते हैं । अच्छा मान लो मनुष्यों की आयु १०० वर्ष की ही मान ली जाय, तो उसमे से ५० वर्ष तो रात्रि के सोने में ही चले गये । अब शेष रह गये ५० वर्ष । ५० वर्षों को तीन भागो में बॉट दो । उनमे से १७ वर्ष बालकपने मे बीत गये १७ वर्ष वृद्धपने मे १७ वर्ष तक कोई विशेष काम नहीं होता, खेल कूदने में या पढने लिखने में बीत जाते हैं वृद्धावस्था मे भी कुछ काम नहीं होता । वात कुपित हो जाती है, इन्द्रियॉ शिथिल हो जाती है, धातुएँ क्षीण हो जाती हैं । उत्साह कम हो जाता है, तनिक श्रम करने पर थकावट आ जाती है । वृद्ध पुरुष तो अपनी आयु के दिन खास खासकर लाठिया के सहारे पूरे करते हैं । भूख लगती नहीं । मन नाना वस्तुओ को खाने को चलता है । जठराग्नि कार्य नहीं करती । सगे सम्बन्धी बूढे से विरक्त हो जाते हैं, उससे बातें करना भी अच्छा नहा समझते, कुछ काम कर नही सकते । ऐसे बेकाम बूढो को व्यर्थ खाने को कौन दे । कोई भाग्य शाली पुण्यात्मा ही धर्म समझ कर वृद्धो की सेवा कर सकते है, नहीं तो—

सींग घिसे अरु खुर घिसे, पींठ बोझ नहिँ लेइ ।
ऐसे बूढे बैल कूँ, कौन बॉधि भुस देइ ॥

इसलिये बुढापे का समय भी व्यर्थ है । अब केवल युवावस्था

के १७ वर्ष शेष रह गये, उसमे युवावस्था का अहकार, गधापचीसी का मद, नित्य ही नई नई चिंतायें, नित्य नये-नये रोग, अपने सगी साथियो, सगे सम्बंधियो, मित्र सुहृदों के वियोग का दुख, व्यापार मे घाटे, राजद्वार के अभियोग मामले, दालो द्वारा की जाने वाली निंदा का दुःख, यदि दुर्भाग्य से किसी की नौकरी करनी पड़ी, तो उच्च विकारियो की धौस, चिनोतियाँ और नौकरी छूटने का भय, ससार मे क्षण-क्षण पर पल पल पर दुःख ही दुःख तो भरा पड़ा है। भर्तृहरि पूछते हैं इस चचल तरग वाले जल के सदृश जीवन में प्राणियो को सुख कहाँ ? आनद कहाँ ? मधुरता कहाँ ? "सर्वं दुःख मय जगत्" जगत तो दुःखालयम्-अशाश्वतम् है। इसमें दुःख ही दुःख है, फिर मधुर स्मृतियाँ कहाँ से लिखूँ ? वादी कहता है—"महाराज, जगत् दुःखालय होगा जिसके लिये होगा। आपको तो हमने दुखी देखा नहीं। लोग दुखी होते हैं, बालबच्चो के लिये, कुटुम्ब परिवार के लिये, पैसा के लिये, प्रतिष्ठा के लिये, कनक के लिय, कमिनी के लिये, कीर्ति के लिये। रोग जनित शोक मोह और चिंता के लिये। आप तो इन सब से रहित हैं। धर द्वार, कुटुम्ब परिवार से रहित हैं प्रतिष्ठा भी पर्याप्त है, धन की चिंता नहीं। कभी किसी विशेष रोग से ग्रसित हमने आपको देखा सुना नहीं। फिर आपको दुःख किस बात का ? आपका जीवन तो सुखमय ही है, आनन्द और उल्लासमय ही है। वह उल्लास जिस कारण से है, इसी के संस्मरण लिख दो।"

मैं कहता हूँ—"दूर के ढोल ही सुहावने लगते हैं। पहाड़ दूर से ही सुन्दर लगता है। उसके भीतर घुसो तो ककड़ पत्थर, काटेदार वृक्ष, कांटेदार झाड़ियाँ, विषधर जीव ये ही मिलेंगे, अतः दुःख का कारण वस्तुएँ नहीं, दुःख कारण तो मन है।

मन प्रसन्न है, तो सभी वस्तुएँ सुखद हैं, मन अप्रसन्न है, चिंताग्रस्त है, तो सर्वत्र दुःख ही दुःख है। शरीरधारी कोई भी सर्वथा सुखी नहीं। सभी को कुछ न कुछ दुःख है, सभी को कोई न कोई चिन्ता घेरे ही रहती है।

तब वादी कहता है—"अच्छा, बाबा! सब दुःखी ही सही, तो दुःखद संस्मरण ही लिख दो। चलो, दुःखद पढ़कर ही संतोष करेंगे।"

मैं कहता हूँ—"दुःख का तो सभी अनुभव कर ही रहे हैं, उनका संस्मरण लिखकर और दुःख को क्यों बढ़ाया जाय?"

वादी कहता—"नहीं महाराज, दुःखद संस्मरण पढ़ने से भी एक प्रकार की आत्मतुष्टि होती है। दुःखद संस्मरण पढ़कर सुख न होता, तो रामायण महाभारतादि को कौन पढ़ता? इनमें दुःखों का ही तो वर्णन है। श्री रामचन्द्रजी ने जब तक दुःख सहे तभी तक तो उनकी कथा है। वनगमन तक ही तो रामायण है, वन से लौटकर तो श्री रामचन्द्रजी ने ग्यारह सहस्रों वर्ष तक राज्य किया। उसका कुछ भी वर्णन नहीं। पाण्डवों पर जब विपत्ति पड़ी तभी तक की कथा तो महाभारत में है। महाभारत युद्ध के पश्चात् ३५ वर्षों तक पाण्डवों ने राज्य किया, उसकी कोई कथा नहीं। करुण रस तो दुःख में ही प्रकट होता है। जो करुणरस रसराज है, समस्त रसों में शिरोमणि है। अतः आप दुःखों का ही संस्मरण लिखकर हमें करुणरस का आस्वादन कराइये।"

मेरा कहना है—"सभी लोग करुणरस की सरिता बहाने की कला में प्रवीण नहीं होते। यह तो भगवत् प्रदत्त एक शक्ति होती है। किसी भाग्यशाली को यह विद्या प्राप्त होती है, जो पाठकों के नेत्रों से गंगा जमुना की दो धारायें बलात् बहा सकें।

वे करुणरस के अवतार भगवान् वाल्मीक ही धन्य हैं, जिन्होंने करुणरस की अमर धारा बहा दी जिसमें अवगाहन करके कितने जीव कृतार्थ हो गये, कितने कृतार्थ हो रहे हैं और कितने आगे होते रहेंगे ? उन भगवन् वाल्मीक के चरणकमल की धूलि के कण को मैं सिरसा वदन करता हूँ।"

वादी कहता है—' देखिये, समान शीलों में ही सौख्य होता है। हिरन हिरन, के ही साथ सतुष्ट रहते हैं, गौएँ गौओं के ही साथ सुख पाती हैं। हम साधारण जीव अपने समान के लोगों के इतिवृत्त से ही तुष्ट रहते हैं। थोडा ही बहुत सही साधन तो आपने किया ही है। साधकों का सग भी किया है। साधनों में क्या-क्या विघ्न आते है, इसका भी कुछ न कुछ अनुभव आपको अवश्य ही हुआ ही होगा। उन बातों को सुनकर ही हमे प्रेरणा प्राप्त होगी। आप न लिखते होते, वीतराग सत महात्माओं की तरह ससार से विरक्त होकर घोर एकान्त में श्रवण, मनन निदिध्यासन करते होते, तब तो हमे आपसे कुछ कहने का साहस ही न होता। जब आप लोगों को सग्रह करते हैं। सफेद कागदों को काले करते रहते हैं, तो एक अध्याय सस्मरण भी सही। पुराने लोग ऐसे त्यागी तितुक्षु, दानी सयमी आदि सद्गुणों वाले हो गये हैं, उनकी बातें पुरानी हैं। जो हमारे सामने हैं, जो हमारी ही भाँति दुर्बलताओं से भरे हैं, किन्तु उन्हे त्यागने के लिये प्रयत्न शील हैं, उनके अनुभवों का हम साधारण साधकों पर विशेष प्रभाव पडता है। भागवत, गीता, तथा उपनिषदों की आप व्याख्या करते हैं, अच्छा ही करते हैं, उनसे लाभ ही होता है, किन्तु सत्य समझिये हम तो पुस्तक हाथ में आते ही सर्व प्रथम आपकी भूमिका को ही पढ़ने को व्यग्र हो उठते हैं। उसमें आपकी अपनी निजी अनुभूति

होती हैं। जिस खंड में आपकी भूमिका नहीं होती, वह खंड हमे फीका-फीका-सा लगता है। पिछले सब खण्डों मे आपने अपनी "निजी चर्चा लिखी उसे हमने बड़े चाव से पढ़ा। खंड आते ही सर्व प्रथम उसे ही पढ़ जाते थे। अब इधर ७९ और ८० खंडों में आपने कुछ भी नहीं लिखा यह हमे ही नहीं हमारे सदृश अन्य सभी पाठक पाठिकाओं को बहुत ही बुरा लगा, अतः आप बुरा बावरा जो भी चाहो, एक अध्याय भूमिका के रूप में अवश्य लिखा करो।"

मेरा कथन है—"आप का कथन तो सत्य है, भूमिका लिखने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, किन्तु अपने सम्बन्ध मे कितना भी सम्हाल कर लिखो किसी न किसी प्रकार ये भाव आ ही जाते हैं—"मैंने ऐसा किया, मैंने अपने विपक्षियों को इस सफाई से पछाड़ा कि वे चकित रह गये। मेरी सामर्थ्य तो आप देखें, मेरे पास कितनी भोग सामिग्रियाँ हैं, वे बड़े सिद्ध बनते थे, मैंने उनसे ऐसी बात कह दी, कि उनकी सब सिटिल्ली गुम हो गयी अपनी सभी सिद्धाई को भूल गये। वे महाशय बड़े बलवान् बनते थे। एक झपट्टा में मैंने उनकी हेकड़ी भुला दी। वे लोग मेरी बराबरी क्या कर सकते हैं। तनिक-तनिक सी वस्तु माँगते फिरते हैं, मैं तो किसी के पास जाता नहीं। जिसका लाख बार स्वार्थ हो, मेरे पास आवे मैंने ऐसा यज्ञ किया, ऐसे-ऐसे दान दिये, ऐसी ऐसी आनंद की यात्रायें की इत्यादि-इत्यादि।" ये अहंकार जन्य भाव आ ही जाते हैं। इसलिये जहाँ तक हो अपने सम्बन्ध की चर्चा कम से कम करनी चाहिये। न की जाय तो सर्वोत्तम है।"

वादी कहता है—"यह आप सत्य कह रहे हैं अपने सम्बन्ध की बात कहने पर कुछ न कुछ अहंकार के भाव अवश्य ही

आ जाते हैं। बडे-बडे लोगों के लेखों में आ जाते हैं। यह स्वाभाविक है किया क्या जाय, अवश्यम्भावी है किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं है, कि इस भय के कारण रंगमंच का परित्याग करके पलायन किया जाय-भाग जाया जाय गुदडी ओढोगे, तो उसमें जूएँ पड ही जायेंगे। जूँओं के भय से कोई गुदडी ओढ देना थोडे ही छोड देता है। जूएँ पड जायें और दिखायी दें जायें तो उन्हें बीन-बीन कर बाहर फेंक दो। अवश्यम्भावी बात से बचना भी चाहो तो कैसे बच सकते हो? सजगता इसी बात में है, कि जो दोष दिखायी दे जायें, उन्हें थूक दो, बाहर निकाल कर फेंक दो। इस विषय में कहो तो एक दृष्टान्त सुना दूँ?"

सुना दो, दृष्टान्त भी।

गोवर्धन पर्वत अब नाम मात्र को ही रह गया है। आधा तो राधाकुण्ड की ओर का भूमि में विलीन हो गया। आधा जतीपुरा पूँछरी के लौठा की ओर का कुछ अवशिष्ट है। उस पर्वत के ऊपर 'गोवर्धन' नाम का ही एक गाँव बसा हुआ है। बीच गोवर्धन पर्वत के ऊपर से एक पक्की सडक आती है। इधर पूर्व की ओर तो वह मथुरा जाती है। पश्चिम की ओर एक सडक तो सीधी बरसाने नदगाँव होती हुई कोसी में जाकर देहली वाली सडक में मिल जाती है। एक पक्की सडक जतीपुरा को जाती है एक कामवन को। राधाकुण्ड का जहाँ से सडक फटती है, वहीं पास में बसों का अड्डा है। चारों ओर से बसें आकर वहाँ खडी होती हैं। एक महात्मा बसों के रुकने के स्थान पर खडे थे। प्रतीत होता था, वे मथुरा जाने को उद्यत थे। उसी समय एक बस आई। उस बस में से एक बहुत ही सुन्दरी नवयुवती उतरी। वह इतनी अधिक सुन्दरी थी, कि महात्मा उसकी ओर

सभी टकटकी लगाकर देखते रहे। उन महात्मा ने ऐसी सुन्दर इतनी रूप लावण्य युक्त सुन्दरी स्यात् पहिले कभी देखी भी न होगी। वे उसी को एकटक निहारते के निहारते ही रह गये। सहसा उस बस में से एक आदमी उतरा, महात्माजी के पास आकर खड़ा हो गया। देखने में वह मुसलमान सा प्रतीत होता था। उसने हँसते हुए कहा—"महात्माजी! क्या देख रहे हो ?"

महात्मा ने कहा—"इस देवी के सौन्दर्य को देख रहा हूँ।"

उस व्यक्ति ने कहा—"क्या करोगे, इसे देखकर ?"

महात्मा ने कहा—"मन मानता नहीं, विवश सा हो गया हूँ।"

उसने कहा—"इसका परिचय दे दूँ ?"

महात्मा ने कहा—"हाँ दे दो। बड़ी कृपा होगी।"

उस आदमी ने कहा—"एक अंगरेज वेश्या थी, बड़ी ही सुन्दरी। उसका सम्बन्ध मेरे एक मित्र मुसलान युवक से हो गया। वह भी ऐसे ही आवारा था। देखने में सुन्दर था। पैसा वाला था। दोनों का मन मिल गया। उसी वेश्या से यह पैदा हुई है। वर्ण सकरता में सौंदर्य अधिक होता ही है।"

इतना सुनना था, कि महात्माजी ने बड़ी घृणा के साथ वहीं थूका और चन्द्र सरोवर वाली सड़क पर बड़े वेग से चले गये। प्रतीत होता था, वे चन्द्र सरोवर के आस पास किसी कुटी में रहते होंगे।"

सो, महाराज! ये अहंकार युक्त वचन तभी तक निकलते हैं, जब तक हम इनका यथार्थ रहस्य नहीं जानते। नहीं तो करने कराने वाले तो सब वे ही श्री हरि हैं। उन्हीं की प्रेरणा से संसार का समस्त कार्य हो रहा है। वे संसार में ऐसे व्याप्त हैं, जैसे माला के दानों के भीतर सूत। ऊपर से दाने ही दाने दीखते हैं, जिनमें ये दाने पिरोये हुए हैं, वह सूत दिखायी नहीं

देता। बुद्धिमान लोग अनुमान से जान लेते हैं। माला का आधार सूत है। सूत न रहे तो माला का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। इसी प्रकार करने कराने वाले वे कारे कृष्ण ही हैं। हम तो केवल निमित्त मात्र हैं। अतः आप अपने को निमित्त मानकर ही लिखिये, लिखते-लिखते अहंभाव आ जाय, तो थूक कर आगे बढ़िये, फिर लिखिये। साधना ही सही।"

मैंने कहा—"तुम यथार्थ कह रहे हो, अच्छा अगले मास से प्रयत्न करूँगा।"

उसने कहा—"प्रयत्न करूँगा, यह मत कहो, यह कहो लिखूँगा।"

मैंने कहा—"अब भविष्य की बात निश्चित रूप से कैसे कह दूँ? यमराज जी से मेरी मित्रता होती तो उनसे पूछकर निश्चित भी कह देता। फिर भी आप कहते हो, तो कहे देता हूँ, लिखूँगा।"

उसने कहा—"अच्छा नमस्कार।"

मैंने कहा—"नमस्कार।"

उसने कहा—"अब कब ?"

मैंने कहा—"अगले खण्ड से।"

छप्पय

आयु प्रथम ई नियत शतायू पुरुष कहावै।
आधी निद्रा माहिं पचासहि पुनि बचि जावै॥
जरा बाल्य में जाय शेष पचीस रहावै।
आधि - व्याधि - दुख - शोक - रोग परसेवा जावै॥
जल तरंगवत अति चपल, जग चपल हु असार है।
इत उत सुख हित भ्रमत नर, दुःख निचय संसार है॥

(छप्पय भर्तृहरि शतक)

मार्गशीर्ष शु० १३-२०२७ वि०
संकीर्तनभवन, भूसी (प्रयाग)

विनीत
प्रभुदत्त

गीता माहात्म्य

(१७)

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
य न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्याय संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥*
(श्री० भाग० ११ स्क० १२ अ० ८,६ श्लो०)

छप्पय

खड्ग वाहु-सुत-भृत्य लगायो पण चढ़ि गज।
दीयो गज ने फेंकि मर्यो गज भयो देह तजि॥
सिंहल में गज भयो भूप सौराष्ट्र पठायो।
तिनि करि कपि कूँ दान देश मालवहिँ बिकायो॥
ज्वर पीड़ित हाथी भयो, करी चिकित्सा बहु नृपाते।
नहीं भयो गज ज्वर रहित, व्यापी चिंता नृपहिँ अति॥

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—उद्धव ! केवल मुझमे प्रेम भाव रखने वाली जो गोपियाँ, गैयाँ वृक्ष और हरिन हाथी सर्पादि तथा अन्य मूढ बुद्धि वाली जीव योनियाँ हैं उन सब ने सिद्धि पाली है। बड़े बड़े दक्षशील साधक जिस मुझे योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, व्याख्या, स्वाध्याय और सन्यासादि साधनों द्वारा प्राप्त नही कर सकते उसी मुझको सत्सङ्ग के द्वारा अत्यन्त सुलभता से प्राप्त कर लेते हैं।

यह जीव भाग्यवश जगत् में नाना योनियों में भटकता रहता है। जिस योनि में भी जाता है, वहीं दुख पाता है। न जाने जीवों के कितने जन्मों के संस्कार कब जाकर कहाँ उदित हो जाते हैं। हम कभी-कभी ऐसे अपरिचित स्थान पर चले जाते हैं, जहाँ इस जीवन में पहिले कभी गये नहीं हैं, किन्तु वहाँ के सभी स्थान, वृक्ष, लता, पर्वत सब परिचित से प्रतीत होने लगते हैं, इससे अनुमान होता है, पूर्वजन्म में कभी यहाँ हम रहे होंगे।

कभी-कभी कोई ऐसा अपरिचित पुरुष मिल जाता है, जिसे देखते ही हमारा अनुराग उसके प्रति फूट पड़ता है, क्षण भर में ही वह आत्मीय पुराना परिचित सा प्रतीत होने लगता है, इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पूर्व जन्मों में हमारा कोई सगा सम्बन्धी सुहृद् रहा होगा। बहुत से ऐसे स्थान हैं, जहाँ हम जाना भी नहीं चाहते किन्तु प्रारब्ध कर्म हठात् हमें वहाँ ले जाते हैं। कैसे-कैसे जीवों के पूर्वकृत संस्कार होते हैं।

पशु पक्षी भले ही बोलते न हों, संस्कारों का प्रभाव तो उन पर भी पड़ता ही है। सत्सङ्ग किसी भी योनि में मिल जाय, वही कल्याण प्रद होता है। इच्छा न रहने पर भी जो अच्छे संस्कार इन्द्रिय गोचर हो जाते हैं। सुनने की इच्छा न होने पर भी कानों में कोई अच्छी बात पड़ जाती है, तो कभी न कभी समय आने पर वह भी काम में आ ही जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने श्री मद्भगवत् गीता के १६ वें अध्याय का यह महात्म्य सुनाया था, जिसे भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी जी से और शिवजी ने पार्वती जी से कहा था। उसमें बताया था कि सौराष्ट्र देश के राजा खड़गबाहु, बड़े हाथियों के

प्रेमी थे,-उनका एक मदमत्त हाथी बिगड़ गया, किसी को समीप ही नहीं आने देता था। श्रीमद्‌भगवत् गीता के सोलवें अध्याय का पाठ करने वाले ब्राह्मण जो "अभय सत्वसंशुद्धि आदि श्लोकों का निरन्तर पाठ करते रहते थे। वे निर्भय होकर मदमत्त हाथी के समीप चले गये। हाथी ने उनसे कुछ नहीं कहा, इस चमत्कार से प्रभावित होकर राजा ने भी ब्राह्मण से सोलहवाँ अध्याय पढकर निर्भयता प्राप्त कर ली वे भी मदोन्मत्त हाथी के समीप गये उसे छूआ और कुछ नहीं हुआ। अन्त में राजा खड्गबाहु अपने पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने वन में चल गये। राज्य सिंहासन पर उनके ज्येष्ठ पुत्र बैठे। उन नये सोराष्ट्र नरेश का एक भृत्य था, उसका नाम दुःशासन था। वह देखा देखी योग साधने वाला था। उसने सबके साथ दर्शकों में खड़े होकर सोलवें अध्याय के पाठ करने वाले ब्राह्मण को, तथा राजा को निर्भय होकर मदोन्मत्त हाथी के समीप जाते देखा था। उसने सोचा—जब श्रीमद्‌भगवत् गीता के सोलहवें अध्याय का तो इतना माहात्म है, तो न जाने सत्रहवें अध्याय का कितना माहात्म्य होगा। यही सोचकर उसने निर्भयता की शिक्षा ली। एक दिन बहुत से माण्डलिक राजकुमार एकत्रित हुए थे। बातों ही बातों में मदोन्मत्त हाथी की बात छिड़ गयी। सब कहने लगे। इस मत्त हाथी के समीप कोई जा भी नहीं सकता। सोलहवें अध्याय के पाठ के प्रभाव से महाराज खड़गबाहु इसके समीप निर्भय होकर गये थे। वे तपस्या करने अपने पुत्र को राज्य देकर वन में चले गये। अब कोई ऐसा नहीं जो इस मदोन्मत्त हाथी के समीप जा सके।

इस पर वह दुःशासन बोला—"आप हाथी के समीप

जाने की बात कहते हैं, मैं इस मतवाले हाथी के ऊपर चढ़ सकता हूँ।"

मंडलीक राजकुमारों ने कहा—"अच्छी बात है, यदि तुम इस हाथी पर चढ़ जाओ तो इतना द्रव्य हम तुम्हें देंगे।"

यह सुनकर वह बड़े गर्व में भर कर किसी प्रकार हाथी की पीठ पर चढ़ गया। इससे उसका अभिमान और बढ़ा और वह हाथी के प्रति उच्च स्वर से कठोर-कठोर शब्दों का प्रयोग करने लगा—

लोगों ने कहा भी—"अरे, भाई! हाथी को ऐसे कठोर वचन मत कहो।"

इस पर दुःशासन कहने लगा—"यह हाथी मेरा क्या कर सकता है। मैं इसे अभी वश में किये लेता हूँ।"

इन बातों को सुनकर हाथी को अत्यन्त क्रोध आ गया। वह मदोन्मत्त तो था ही दुःशासन के कठोर वचनों को सुनकर क्रोध में अंधा हो गया और वह उछलने लगा। इससे दुःशासन का पैर फिसल गया और वह धड़ाम से धरणी पर गिर पड़ा। गिरते ही वह विमूर्छित बन गया। वह मृत प्रायः हो गया था, कुछ-कुछ उच्छ्वास ले रहा था, हाथी ने उसे अपनी सूंड़ से उठाकर ऊपर उछाल दिया, अतः ऊपर से गिरते ही उसके प्राणों का अन्त हो गया। सब के देखते-देखते वह प्राण हीन होकर भूमि में लोटने लगा।

कहावत है, "अंतेयामतिः सा गतिः" अन्त में जैसी मति होती है, जिसमें भी मन की वृत्ति लगी रहती है, वैसी ही योनि प्राप्त होती है। इसकी चित्त की वृत्ति हाथी में लगी थी, अतः इसे हाथी की ही योनि प्राप्त हुई।

वह सिंहलद्वीप के वनों में जाकर हाथी हुआ। वहाँ से राज

कर्मचारी उसे पकड कर ले आये। बहुत दिनों तक यह सिंहल द्वीप के महाराजा की गजशाला में रहा। यह देखने में सुन्दर था तथा चलने में भी वेगशाली था।

सिंहलद्वीप के राजा की खड्गबाहु के पुत्र से बडी मित्रता थी, अत. अपने मित्र की प्रसन्नता के निमित्त उपहार में सिंहल नरेश ने इसे सौराष्ट्र नरेश के समीप जल मार्ग से पहुँचा दिया। महाराज खड्गबाहु की भाँति ये उनके पुत्र भी हाथियों के बडे प्रेमी थे। सिंहल नरेश के इस उपहार को पाकर वे परम प्रमुदित हुए और इस हाथी को बडे प्रेम से अपनी गजशाला में रखा।

पहिले राजागण बडे गुणग्राही हुआ करते थे। राज परिषद् में कोई कवि उनकी प्रशसा में कोई पद्य सुना देता था, तो उसे वे यथेष्ट पुरस्कार दिया करते थे। इन राजा की परिषद् में भी एक दिन कोई विद्वान् कवि आया। उसने राजा की प्रशंसा में एक बहुत ही प्रशसनीय पद्य पढा। उसे सुनकर राजा परम प्रमुदित हुए और उन्होंने प्रसन्न होकर कवि को पारितोषिक रूप में वही हाथी दिया, जिसे सिंहलद्वीप के राजा ने उसे उपहार स्वरूप भेजा था। कवि प्रसन्न होकर हाथी को लेकर राजा का जय जयकार करता हुआ अपने निवास स्थान को चला गया।

कवि निर्धन था, वह हाथी का पालन पोषण करने में असमर्थ था, अतः उसने सौ सुवर्ण मुद्राओं में उसे मालव नरेश के हाथों बेच दिया। अब वह मालव नरेश की गजशाला की शोभा बढाने लगा।

एक बार उसे ज्वर आया और ऐसा असाध्य ज्वर आया, कि कोई भी औषधि उस पर प्रभाव नहीं डाल सकी। जब हस्तिप सब औषधि करके थकित हो गये और हाथी का ज्वर नहीं गया, तब हस्तिपों ने राजा से आकर कहा—"अन्नदाता! आपका

हाथी असाध्य रोग से पीड़ित है। हम उसे स्वस्थ करने के नाना उपाय कर चुके, किन्तु वह स्वस्थ ही नहीं होता, अब, आपकी जैसी आज्ञा हो वही किया जाय।"

हस्तिपों की बात सुनकर राजा बहुत से चिकित्सकों और सचिवों के सहित हाथी के समीप गये। हाथी ज्वर जनित वेदना से तड़प रहा था, चिकित्सकों ने उसे निरोग करने के उपाय करने चाहे, किन्तु हाथी को राजा के दर्शन होते ही पूर्व जन्म की सब बातें स्मरण हो आई उसे यह भी स्मरण हो आया, कि मैं पहिले दुःशासन था, हाथी द्वारा मारे जाने पर ही मुझे यह हाथी योनि प्राप्त हुई और इससे उद्धार भी गीता पाठ करने वाले किसी महात्मा द्वारा ही होगा। अतः वह सबको आश्चर्य में डालने वाली, मानवी भाषा में कहने लगा—"राजन्! आप व्यर्थ श्रम क्यों करते हैं, मुझे इन संसारी औषधियों से लाभ न होगा। मेरा उद्धार जिस औषधि से होगा उसे मैं जानता हूँ।"

राजा ने कहा—"गजराज! बताओ तुम किस औषधि से अच्छे होगे?"

हाथी ने कहा—"महाराज! आप किन्हीं ऐसे ब्राह्मण को बुलाइये जो गीता के सत्रहवें अध्याय का नित्य नियम से सतत पाठ करते हो। वे यदि गीता मंत्र से अभि-मन्त्रित करके जल मेरे ऊपर छिड़क दें तो मेरा उद्धार हो जायगा। अन्य किसी भी उपाय से मैं अच्छा होने वाला नहीं।"

यह सुनकर राजा ने अपनी राजधानी में ढुँढ़वाया। खोज करने पर ऐसा एक ब्राह्मण मिल ही गया, जो गीता के सत्रवें अध्याय का सतत पाठ किया करता था। राजा ने बड़े सत्कार-पूर्वक उसे बुलाया और उसे सभी वृत्तान्त बताया। सब सुनकर ब्राह्मण ने गंगा जल को गीता मंत्र से अभिमंत्रित करके ज्योंही

उसके ऊपर छिडका त्योंही वह गज योनि से छूटकर दिव्य देह धारण करके दिव्य विमान पर आरूढ होकर दिव्य लोकों को जाने लगा। इस चमत्कार को देखकर परम चकित होकर राजा ने उससे पूछा—"महानुभाव! आप पूर्व जन्म में कौन थे और यह इन्द्र के समान दिव्य देह आपको किस पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई ?"

तव उसने कहा—"राजन्! मैं पूर्व जन्म में सौराष्ट्र नरेश का एक साधारण भृत्य था। मैंने श्रीमद्भगवत् गीता के सोलवें अध्याय के पाठ का चमत्कार अपनी आँखों देखा था। तब मन में सोचा था, जब सोलवें अध्याय के पाठ से प्राणी निर्भय बन सकता है, तो न जाने सत्रहवें अध्याय के पाठ में क्या चमत्कार होगा, इसीलिये गज योनि में भी मैंने सत्रहवें अध्याय का चमत्कार देखना चाहा, सो आपके सामने प्रत्यक्ष ही है। अतः अब मैं श्रीमद्भगवत् गीता के सत्रहवें अध्याय द्वारा अभिमंत्रित जल के प्रभाव से दिव्य लोकों में जा रहा हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर गज दिव्य विमान में बैठकर दिव्य लोकों को चला गया। मालव नरेश भी गीता के सत्रहवें अध्याय के माहात्म्य को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने उस ब्राह्मण से श्रद्धा सहित गीता के सत्रहवें अध्याय का विधिवत् अध्ययन किया और निरन्तर के पाठ से वे भी ससार सागर से सदा के लिये मुक्त हो गये। यह मैंने सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया अब अंतिम अठारहवें अध्याय का माहात्म्य आपको आगे सुनाऊँगा। जिसे भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी जी को और शिवजी ने पार्वती जी को सुनाया था।

छप्पय

मानव स्वर गज कहे—न औषधि ममदुख टारैं।
सत्रहवों अध्याय पाठ द्विज ताहि निवारैं॥
राजा सोई करयो मंत्र पढि द्विज छिरक्यो जल।
तजि गजतन सो तुरत दिव्य तन प्रकट्यो निरमल।
कह्यो सकल वृत्तान्त निज, राजा सुनि प्रमुदित भये।
पढि सत्रह अध्याय वे, मुक्त जगत तैं ह्वै गये॥

अथ

अष्टादशोऽध्यायः

(१८)

अर्जुन का त्याग और संन्यास के अर्थ के सम्बन्ध में प्रश्न

[१]

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० १, श्लोक)

छप्पय

अरजुन बोले—नाथ ! त्याग संन्यास शब्द जो ।
तिनिमें का है भेद बतावें वासुदेव सो ॥
इनि दोउनि को तत्त्व केशिसूदन ! समुझावें ।
पृथक-पृथक इनि अरथ महाबाहो ! बतलावें ॥
केशी नामक असुर के, तुम हो मारनहार हरि ।
त्याग और संन्यास को, अरथ बतावें कृपा करि ॥

---

* अर्जुन ने कहा—"हे महाबाहो ! मैं संन्यास का तत्त्व जानना चाहता हूँ, हे हृषीकेश ! साथ ही त्याग के तत्त्व को भी बतावें । हे केशिनिषूदन ! इन दोनों के तत्त्व को मैं पृथक्-पृथक् ही जानना चाहता हूँ ॥

कोई कोई शब्द किसी के अर्थ में रूढ़ हो जाता है। जैसे पंकज शब्द है। इसका अर्थ है पंक-कीच-से जो उत्पन्न हो वह पंकज। कीच से तो सिवार नाम की एक घास पैदा होती है, जोंक नाम का एक कीड़ा भी कीच से पैदा होता है, कमल भी कीच से होता है, किन्तु पंकज शब्द इन अर्थों में व्यवहृत नहीं होता। वह तो एकमात्र कमल के अर्थ में रूढ़ि बन गया है। पंकज कहते ही कमल हमारे हृदय पटल पर छा जाता है। कोई-कोई शब्द प्रतीकात्मक भी रूढ़ हो जाता है। जैसे भ्रातृव्य शब्द है। भ्रातृव्य भाई के लड़के को भतीजे को कहते हैं। वह हमारे पितृव्य धन का अधिकारी है। अधिकार में प्रायः कलह होती ही है, जिससे कलह होती है उससे शत्रुता बँध ही जाती है। इसी प्रतीक के कारण 'भ्रातृव्य, शब्द का अर्थ शत्रु हो जाता है। इसी प्रकार 'संन्यासी' शब्द को सुनते ही हमारे सम्मुख दाढ़ी मूँछ मूँड मुड़ाये, गेरुए कपड़े पहिने हाथ में दर्योर्या नारियल का पात्र लिये एक ऐसे व्यक्ति का चित्र आ जाता है, जो शिखा, सूत्र, सन्ध्या वंदन, देव, ऋषि तथा पितृ कर्मों से रहित हो और हाथ से भोजन न बनाकर यत्र-तत्र-सर्वत्र खा लेता हो। वास्तव में संन्यास और संन्यासी का यह अभिप्राय नहीं।

धर्म शास्त्रों के अनुसार 'संन्यास' वर्णाश्रम धर्म के चार आश्रमों में से एक अंतिम आश्रम है। जब पुत्र के भी पुत्र हो जायँ और संसारी भोगों से वितृष्णा हो जाय, तो वन में जाकर वास करे, अर्थात् घर के सब झंझट छोड़कर वन के कंदमूलों पर निर्वाह करता हुआ। शास्त्रीय विधि से घोर तप में निरत हो जाय। शीतोष्ण सहन करे, किसी से याचना न करे, ब्रह्मचर्य से रहे, सदा शरीर को तपाने में-विविध प्रकार के तपों में-निरत रहे, इतने पर भी अग्निहोत्र आदि नित्य नैमित्तिक कर्मों को न छोड़े।

जब समझे वैराग्य दृढ़ हो गया। तितिक्षा की शक्ति पूरी आ गयी। बाहर की अग्नियो को भीतर की अग्नियों मे आरोपित करके निरग्नि बन जाय, ऐसे त्यागी को फिर अग्निहोत्रादि कर्मों की आवश्यकता नहीं। वह समस्त काम्य कर्मों का परित्याग करके सन्यासी त्यागी बन जाय।

सन्यासी तीन प्रकार के बताये हैं, एक ज्ञान संन्यासी, दूसरे वेद सन्यासी और तीसरे कर्म संन्यासी। जो समस्त इस लोक की तथा स्वर्गादि परलोक के सुखों की आसक्ति से रहित होकर निर्द्वन्द्व तथा निष्परिग्रह बनकर निरन्तर ही आत्मज्ञान में निमग्न रहे, वह ज्ञान संन्यासी है।

जो केवल वेद के ही अभ्यास में निरन्तर निरत रहता है, जिसको किसी प्रकार की संसारी वस्तुओं की आशा नहीं है, जो किसी भी वस्तु का परिग्रह-संग्रह नहीं करता जो अपनी इन्द्रियों को वश मे करके जितेन्द्रिय होकर वेद के अध्ययन मे लगा रहता है उस मुमुक्षु को वेद सन्यासी कहते है।

जो बाहर की आहवनीयादि अग्नियो का आत्मसात् कर लेता है अर्थात् बाह्य अग्नियों को भीतर की अग्नि मे आरोपित कर लेता है। जो समस्त कार्यों को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करता है, वह महायज्ञ परायण संन्यासी कर्म संन्यासी होता है। इन तीनो मे ज्ञानी श्रेष्ठ है।

संन्यासियो के चार प्रकार बताये हैं (१) हंस (२) परम हंस (३) कुटीचक और (४) बहूदक। जो सबसे स्नेह छोडकर अपने ग्राम के ही समीप कुटी बनाकर रहे वह कुटीचक है, जो अपने उज्वल चरित्र द्वारा निरन्तर ब्रह्म विचार में मग्न रहे वह हंस है। जो सब कुछ परित्याग करके ज्ञान में ही निमग्न रहे वह परमहंस है। जो एक जगह स्थिर न रहे। निरन्तर घूमता ही रहे, अनेकों

घाटों का पानी पीता फिरे वह बहूदक है। इस प्रकार चतुर्थाश्रमी सन्यासियों के भेद हैं।

आजकल जो यह निर्मूल-सी धारणा बन गयी है, कि सन्यासी को शिखासूत्रों का परित्याग कर ही देना चाहिये। यह केवल भ्रम मात्र है। सन्यासी के पर्यायवाची शब्द चतुर्थाश्रमी, पाराशरी, मस्करी, परिव्राट्, कर्म्मन्दी, श्रमण, भिक्षु, इत्यादि। आजकल सन्यासी शब्द तो शिखासूत्र त्यागी के अर्थ में तथा श्रमण शब्द जैनी साधुओं के अर्थ में और भिक्षु शब्द बौद्ध साधुओं के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं। वास्तव में वह चाहें शिखा सूत्र धारी हो या शिखा सूत्र त्यागी हो, काषायवस्त्र पहिने हो, या लाल अथवा स्वच्छ वस्त्रों से सन्यास में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सन्यास में सद्गुणों पर विशेष कर त्याग और वैराग्य पर ही विशेष बल दिया है। जो जितना ही अधिक त्यागी विरागी, निष्परिग्रही होगा वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ सन्यासी समझा जायगा। सन्यासी को समबुद्धि होना चाहिये उसका आचार शुद्ध हो, काम, क्रोध लोभ मोहादि से रहित हो किसी वस्तु का संग्रह न करे। कौपीन, आच्छादन दंड और कमंडलु बहुत ही आवश्यक सामाग्रियों का केवल शरीर निर्वाहार्थ रखे। मौनी, ब्रह्मचारी, सदाचारी, मानापमान में तुल्य, हिंसा माया से रहित, शान्त, दान्त, तितिक्षु, अपरिग्रही, एकान्तवासी रहे। सदा एक का अन्न न खाय इत्यादि बहुत से गुण बताये हैं। सन्यासी के लिये चार प्रकार के ही पात्र बताये हैं। या तो लौकी का कमंडल रखे, या काष्ठ का बना अथवा मृत्तिका का यदि मिल जाय तो मोटे बाँस का पात्र बना ले। पहिले ये पात्र सर्वत्र सहज में बिना मूल्य मिल जाते थे। आजकल जो सन्यासी जल दरियायी यह नारियल का पात्र लोहे की टोंटी लगाकर, उपर

से चांदी आदि मढ़कर कमंडलु रखते हैं यह सब अशास्त्रीय हैं इस प्रकार शास्त्रो मे यतियों के संन्यासियो के बहुत कठोर-कठोर नियम बताये हैं। संन्यास आश्रम सबसे कठोर है। उसके नियमो का पालन बहुत कठोर है। संन्यासी को न्यस्त दंड बताया है। अर्थात् अपने साथ कोई कितना भी अपकार करे उसे दंड नही देना चाहिये। पहिले दंड लोग वॉस के दडे से देते थे। अतः दंड धारण-दंड का ही प्रतीक है। कोई एक दंड कोई तीन दंड प्रतीकरूप मे धारण करते थे। तीन दंड दैहिक, वाचिक और मानसिक बताये हैं। किन्तु केवल संन्यासी का वेप बना लेना, केवल संन्यासी के वाह्यचिन्हो को-दंड कमंडलु आदि-को धारण कर लेना यह सन्यास नही है। इसकी वेद शास्त्रो ने बड़ी निन्दा की है। केवल लिंगों को अपना लेना, बाहरी चिन्ह बना लेना धर्म में कारण नहीं। बालों को पकड़ लेने मात्र से कोई यति नहीं हो सकता।

वास्तव में तो संन्यास धर्म का सम्बन्ध चिन्हो से न होकर अन्तःकरण से है, जिसका अन्तःकरण पवित्र हो गया है, वह कहीं भी रहे, कैसे भी वेप मे रहे वह यति संन्यासी ही है, और जिसने बाहरी वेप तो बहुत ही भव्य बना लिया है। चिन्ह तो सब सन्यासियों के धारण कर रखे हैं, किन्तु उसका अतःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, न उसे शुद्ध करने का कोई प्रबल प्रयत्न ही कर रहा है, तो उसे कभी त्यागी विरागी सन्यासी नहीं कह सकते। इसलिये त्याग क्या है, संन्यास क्या है, इसके रहस्य को भली भॉति समझ लेना चाहिये। सन्यास का अर्थ है, सब कुछ छोड़कर-समस्त कर्मो का परित्याग करके-तत्वचितन मे ही मन को लगाना। जिसने संन्यास ले लिया, उनके लिये कोई कर्तव्य कर्म शेप नहीं रह जाता, न उसके लिये कोई अकर्तव्य ही

होते, जो सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से ऊपर उठ गया, निस्त्रैगुण्य हो गया, उसके लिये विधि निषेध, कर्तव्य अकर्तव्य, धर्म अधर्म कुछ भी नहीं रह जाता। जिसका शरीर में से अहंभाव मिट गया, बुद्धि जिसकी सत् असत् विवेक से भी ऊपर पहुँच गयी। स्वभावानुसार अच्छा बुरा कैसा भी कार्य हो जाय, बुद्धि पर उसके अच्छेपने का बुरेपने का तनिक भी प्रभाव न पड़ता हो, वह जो भी कुछ करे वही सब उचित ही है, उसे किसी भी कर्म में दोष नहीं लगता, क्योंकि वह तो दोष गुण दोनों से परे हैं।

गीता शास्त्र एक विलक्षण मार्ग का प्रतिपादन करता है। इस बात को हम पिछले अनेक प्रकरणों मे बार-बार बता चुके हैं, कि गीता के समय दो ही मार्ग प्रचलित थे, एक तो सांख्य-मार्ग–अर्थात् ज्ञानमार्ग दूसरा योगमार्ग–वर्णाश्रम धर्म मार्ग–या कर्म मार्ग। ज्ञानमार्ग मे तो वर्ण धर्म गौण है, वहाँ ज्ञान की प्राधान्यता है। वर्णधर्म का पालन तभी तक विहित है, जब तक अन्तःकरण की शुद्धि न हुई हो–पूर्व जन्म के कषाय नष्ट न हुए हों। कर्मों को विषयों से वैराग्य के निमित्त करने चाहिये। वहाँ कर्मों के करने मे तात्पर्य नहीं है। वैराग्य वृद्धि में तात्पर्य है। जिस क्षण जहाँ पर ही–जिस वर्ण मे जिस आश्रम में–जब भी वैराग्य हो जाय। वह चाहे ब्रह्मचर्य अवस्था मे गुरु गृह में हो जाय, या अपने निज के घर मे गृहस्थाश्रम में हो जाय, अथवा वानप्रस्थावस्था मे वन मे हो जाय, उसी समय समस्त कर्मों को छोड़कर संन्यास ले ले, वर्ण का, आश्रम का कुछ भी विचार न करे।

वर्णाश्रम धर्म मे वर्ण और आश्रम दोनों मे श्रेष्ठता अश्रेष्ठता का विचार है। उसमे शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय तीनों को सन्यास

का अधिकार नहीं। आश्रमों मे नियम है, एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाय, कभी अनाश्रमी न रहे। ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थाश्रम मे जाय, गृहस्थाश्रम से, वानप्रस्थाश्रम मे और वानप्रस्थाश्रम से संन्यासाश्रम मे जाय। अन्यथा न करे। यदि अन्यथा करता है अर्थात् संन्यास से गृहस्थाश्रम मे आता है या वानप्रस्थाश्रम से गृहस्थी हो जाता है तो उसे आरूढ़ पतितपने का दोष लगता है। किन्तु संन्यास उसमे भी अंतिम लक्ष्य है। वर्णाश्रम की परि समाप्ति भी संन्यास में ही है। जैसे सांख्य या *ज्ञान मार्ग का लक्ष्य त्याग अथवा संन्यास है उसी प्रकार कर्म* मार्ग या योग मार्ग की परि समाप्ति भी संन्यास या त्याग मे ही है।

किन्तु भगवान् ने समस्त गीता में निष्काम कर्म योग या भक्ति योग पर ही बल दिया है। उन्होंने ज्ञान मार्ग या वर्णाश्रम धर्म कर्म मार्ग का कहीं खंडन नहीं किया। दोनों मे किसी को छोटा बड़ा नहीं बताया। कह दिया जो स्थान सांख्य वालों को अर्थात् ज्ञान मार्ग वालों को प्राप्त होता है, वही स्थान वर्णाश्रम-धर्म वाले कर्म योगियों को भी प्राप्त होता है। जो सांख्य मार्ग के और कर्म मार्ग के दोनो के लक्ष्य को एक देखता है, वास्तव मे वही देखता है, किन्तु भगवान् का पक्ष यह है कि तुम जहाँ भी हो निष्काम भाव से वहीं रह कर प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते रहो। स्थान-स्थान मे इसी बात पर आदि से अन्त तक भगवान् बल देते रहे है। अर्जुन ने यह सोचा—कि मैं अपने सगे सम्बन्धियों को मार कर जो राज्य प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा हूँ, यह पाप कर रहा हूँ। इसलिये मुझे युद्ध से उपरत हो जाना चाहिये। भगवान् से उसने यही कहा—"मैं युद्ध न करूँगा।"

भगवान् ने पूछा—"क्यों नहीं करोगे, महाशयजी !"

अर्जुन ने कहा—"मैं रुधिर से सने भोगों को भोगना नहीं चाहता।"

भगवान् ने कहा—"रुधिर से सने भोग कहाँ हैं जी !"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, भीष्म, द्रोण, कृपादि गुरु जनों को मार कर जो भोग भोगे जायँगे वे रक्त से रञ्जित ही तो होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"भाई, विवशता है, तुमने जन्म ही ऐसे वर्ण में लिया है, जहाँ कर्तव्य बुद्धि से सगे भाई से भाई को, पिता से पुत्र को लडना ही पडता है। क्षत्रिय का धर्म ही यह है।"

अर्जुन ने कहा—"मैं ऐसे घोर क्रूर धर्म का पालन नहीं करना चाहता।"

भगवान् ने कहा—"वर्णाश्रम धर्म में तो अपने अपने वर्ण के अनुसार कर्म करके उसी से आजीविका चलानी चाहिये। अपना जो पैतृक धन्धा हो उसे कभी छोडना नहीं चाहिये। अपने धर्म में मर जाना भी श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयावह है। क्षत्रिय का कर्म, धर्म युद्ध करना है। अतः तुम्हे यह स्वतः ही प्राप्त हो रहा है। शत्रुओं को मार कर प्रजा पालन रूपी धर्म का पालन करके उसी के द्वारा अपनी आजीविका चलाओ। युद्ध न करोगे, तो शत्रु तुम्हारा राज्य न देंगे। तुम भूखों मर जाओगे ?"

अर्जुन ने कहा—"भूखों क्यों मर जायँगे ? जब हम लाक्षागृह से भागे थे, उस समय बारह वर्षों तक छिपकर रहे थे, तब भूखों थोड़े ही मर गये थे। जैसे उस समय भिक्षा माँग कर पेट भर लेते थे, वसे ही अब भी भीख से पेट भर लेंगे।"

भगवान् ने कहा—"उस समय की बात दूसरी थी, उस समय तुम लोगों का विवाह नहीं हुआ था, एक प्रकार से तुम सब भाई ब्रह्मचारी थे, अतः ब्रह्मचारी का चाहे वह ब्राह्मण वर्ण का हो, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण का हो—"भिक्षा माँगना धर्म है। यद्यपि तुम लोग ब्रह्मचारियों की भाँति गुरुकुल में वास नहीं करते थे, तथापि आपत्ति मे थे। आपद् धर्म मे क्षत्रिय के लिये विधान है। (चरेत्वा विप्ररूपेण) आपत्ति काल में क्षत्रिय ब्राह्मण का वेष बनाकर भिक्षावृत्ति कर सकता है। किन्तु वह तभी तक इस वृत्ति से निर्वाह करने का अधिकारी है जब तक उसकी आपत्ति दूर न हो। आपत्ति दूर हो जाने पर भी जो आपद् धर्म वाली वृत्ति का पालन करता है पतित हो जाता है। (कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्हेण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा)

उस समय तुम सब भाई आपत्ति मे थे, आपत्ति में ब्राह्मण-वृत्ति स्वीकार कर लेना क्षत्रिय का दोष नही। जब आप सब भाइयो का विवाह हो गया। महाराज द्रुपद जैसे बलवान् क्षत्रिय से सम्बन्ध हो गया, तब तुम लोग आपत्ति से मुक्त हो गये। इसलिये तब आप लोग भिक्षा माँगने के अनधिकारी हो गये। आप लोगो ने धृतराष्ट्र से अपना धर्म पालन करने के लिये राज्य की याचना की। गृहस्थी क्षत्रिय अनापद् में भिक्षा पर निर्वाह करता है, तो पाप करता है इसलिये आप इन्द्रप्रस्थ मे अपनी राजधानी बनाकर प्रजा पालन रूप धर्म करके अपना निर्वाह करने लगे। अब न तो आप पर आपत्ति ही है न भिक्षा पर निर्वाह करने वाले आप ब्रह्मचारी अथवा सन्यासी ही हो, फिर भिक्षा पर निर्वाह कैसे कर सकते हो?

अर्जुन ने कहा—"ब्रह्मचारी तो हम रहे नहीं सन्यास का हमे अधिकार नहीं, तो वानप्रस्थ होने का तो अधिकार है। जैसे

बारह वर्ष तक हम कन्दमूल फलों पर निर्वाह करते रहे या जसे अज्ञात वर्ष में एक वर्ष तक नौकरी करके निर्वाह करते रहे वसे निर्वाह करेंगे।"

भगवान् ने कहा—"देखो, क्षत्रिय तभी वानप्रस्थ में जा सकता है, जब उस विषयों का भोग करते करते पूर्ण विराग हो गया हो। पुत्र राज्य करने का अधिकारी हो गया हो। तब सब की अनुमति लेकर वन में जाकर कन्द मूल फल खाते हुए निरंतर तप में निरत हो सकता है। सो, तुम्हें अभी विषय भोगों से राज्यपाट से पूर्ण विराग तो हुआ नहीं। पुत्र अभी राज्य के योग्य नहीं राज्य की अभिलाषा अभी मन में है ही। ऐसी दशा में वन में जाकर निर्वाह करने लगो तो कायर कहलाओगे। बारह वर्ष वन में रह कर एक वर्ष नौकरी करके जो तुमने निर्वाह किया वह भी आपद् धर्म था। अब वह तेरह वर्ष वनवास करने की प्रतिज्ञा रूपी आपत्ति तो टल गयी। अब तुम वानप्रस्थी नहीं हो जो वन के कदमूल फलों पर निर्वाह करो। रही बात नौकरी की सो क्षत्रिय को नौकरी करना सर्वथा निषेध है। (चरेत् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन) हाँ सांख्य योग अर्थात् ज्ञान हो जाने पर ज्ञान मार्गी क्षत्रिय सन्यासी हो सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो उस वर्णाश्रमी सन्यासी में और सांख्य योग के अनुसार बने सन्यासी में कोई अन्तर है क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कुछ भी अन्तर नहीं दोनों को एक ही पद प्राप्त होगा।"

अर्जुन ने कहा—"तब मैं सांख्यमार्ग वाला सन्यासी बनकर ही भिक्षा पर निर्वाह कर लूँगा।"

भगवान् ने कहा—"सांख्य योग वाले सन्यास को क्या तुमने

गुड़ का पूआ समझ रखा है, उसमें भैया जी ! बड़ा क्लेश होता है। क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।" उसका निर्वाह आपसे नहीं होने का ?"

तब अर्जुन घबड़ा गया। उसने हाथ जोड़कर पैरों में पड़कर कहा—"तब मैं क्या करूँ, मैं तो धर्म के विषय में समूढ़ चित्त वाला बन गया अब मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण मे हूँ, मेरा जिसमे कल्याण हो, वह उपदेश मुझे दीजिये। मेरे धर्म का भी पालन हो जाय और गुरुजनो के वध का पाप भी मुझे न लगे। ऐसा कोई मार्ग मुझे बताइये।"

भगवान् ने कहा—"मध्यमार्ग को ग्रहण करो।"

अर्जुन ने पूछा—"मध्य मार्ग क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो बहुत उच्चकोटि के विशाल बुद्धि के क्षीण पाप वाले उत्तम अधिकारी हैं, उनके लिये तो सांख्य मार्गथा या ज्ञानमार्ग है और जो निम्न श्रेणी के अधिकारी है, उनके लिये क्रम मार्ग या कर्म मार्ग है क्रम-क्रम से शूद्र धर्म का पालन करते हुए दूसरे जन्म में वैश्य होना। वैश्य धर्म का पालन करते हुए दूसरे जन्म में क्षत्रिय होना। क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए दूसरे जन्म में ब्राह्मण होना ब्राह्मण धर्म का पालन करते हुए अंत में सर्वस्व त्याग कर संन्यासी हो जाना। और संन्यास द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेना। यह क्रममार्ग सर्वसाधारण के उपयुक्त कर्म मार्ग है। चाहे सांख्य मार्ग हो चाहें कर्म मार्ग हो संन्यास त्याग दोनों में परमावश्यक है।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर मध्यमार्ग कौन सा रहा ?"

भगवान् ने कहा—"यह तीसरा मार्ग है, इसका नाम भक्ति मार्ग है, इसे निष्काम कर्म मार्ग ब्रह्मार्पण मार्ग, प्रपन्न मार्ग अथवा शरणागत मार्ग है।"

अर्जुन ने पूछा—"इसमें क्या करना होता है ?"

भगवान् ने कहा—"इसमे फल की इच्छा से कर्म नहीं किया जाता। मन मे कोई कामना रखकर फल की आशा से कर्म नहीं किया जाता। जहाँ हो जिस वर्ण, जिस आश्रम मे हो वही सुख और दुःख को, लाभ और अलाभ की ओर दृष्टि न रखकर दोनों को सम मानकर निष्काम भाव से जो सप्राप्त कर्तव्य को भगवदर्पण बुद्धि से किया जाता है, वह प्रभु की ही पूजा है। तुम इसी बुद्धि से–मेरी आज्ञा मानकर मुझे अर्पण करते हुए युद्ध करो। ऐसे भाव से युद्ध करने पर फिर चाहे तुम सैकड़ों भीष्म, कर्ण और कृपादि गुरुजनों को मार दो तुन्हें कुछ भी पाप न लगेगा। बस, इसी सिद्धान्त को भगवान् ने पिछले सभी अध्यायो में बल दे देकर समझाया। अर्जुन ने बीच-बीच मे जो-जो शकायें की उनका भी यथोचित उत्तर दिया। इस प्रकार समझाने बुझाने में सत्रह अध्याय समाप्त हो गये। अर्जुन भली प्रकार समझ गये, कि सांख्य योग और कर्म योग इन दोनों मार्गों से भिन्न एक निष्काम कर्म योग मार्ग भी है, उसमें समस्त कर्तव्य कर्मों का बिना त्याग किये हुए निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हुए, सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करने की बुद्धि से करते रहने पर कोई दोष न लगेगा। बिना सर्व कर्मों के त्याग के संन्यासी का वेष बिना बनाये ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

जब सांख्य मार्ग अर्थात् ज्ञान मार्ग में भी सन्यास और त्याग परमावश्यक है और वर्णाश्रमधर्म कर्म मार्ग मे भी संन्यास और त्याग अत्यावश्यक है, तो इस तीसरे मार्ग निष्काम कर्म मार्ग या भक्ति मार्ग मे भी संन्यास या त्याग आवश्यक है या नहीं। एक ही यह शंका अर्जुन के मन में शेष रह गयी। अब उपसंहार रूप मे अर्जुन इस शका को पूछ कर भी 'करिष्येवचनं

तब' तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा। यह कहेंगे। अतः यह अठारहवाँ अध्याय निर्णयात्मक अध्याय है। समस्त गीता का सार सिद्धान्त इसमें बता दिया है, इसीलिये इस अध्याय का महत्व अत्यधिक है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन को जिज्ञासा हुई कि ज्ञान मार्ग में तो समस्त कर्म त्याग के निमित्त संन्यासी बनने के लिये ही किये जाते हैं। बिना सन्यास के–त्याग–के ज्ञान नहीं और बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं।

इधर वर्णाश्रम कर्म योग का भी अन्तिम आश्रम संन्यास ही है। सब कुछ त्यागकर मुक्ति प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील हो जाओ दोनों मार्ग त्याग सन्यास प्रधान है। अब अर्जुन के पूछने का अभिप्राय यह है, कि इह तीसरे मध्य मार्ग भक्ति-मार्ग या निष्काम कर्म योग मार्ग में भी सन्यासी बनना अत्यावश्यक है या नहीं। इसे भी निष्काम कर्म करते करते अन्त में कर्मों से सन्यास ले लेना चाहिये या नहीं। इसी शंका को व्यक्त करते हुए अर्जुन ने कहा –"भगवन्! आपकी बड़ी-बडी विशाल बाहुएँ हैं। जहाँ मन भी नहीं पहुँचता, वहाँ तक आपकी बाहुएँ फैली रहती हैं। अतः अब मुझे युद्ध से कोई भय नहीं।"

भगवान् ने कहा—"अपना अभिप्राय कहो।"

अर्जुन ने कहा—"हे महाबाहो! आप समस्त इन्द्रियों के नियन्ता हैं, उनके स्वामी हैं। कोई भी इन्द्रिय आपकी आज्ञा के विरुद्ध अनुसरण नहीं कर सकती।"

भगवान् ने कहा—"फिर वही बात, अरे बाबा तुम कहना क्या चाहते हो।"

अत्यन्य ही स्नेह सिक्त वाणी में प्यार के साथ–आत्मीयता

के अनुराग भरे शब्दों मे–अर्जुन ने कहा –"हे महाबाहो! हे हृषीकेश!! आपने व्रज मे एक केशी नाम के असुर को मारा था, वह कंस का भेजा हुआ था। उसके भय से समस्त व्रजवासी काँप रहे थे, उस अधर्म बन्धु ने घोड़े का रूप बना लिया था। वैसे तो उसके काम, क्रोध, लोभ और मोह रूप चार पैर थे किन्तु दो को पृथ्वी पर टिकाकर काम क्रोध रूप दो पैरों से ही दुलत्ती झाड रहा था। आप तो महाबाहु ही ठहरे। आपने अपनी विशाल भुजा उसके मुँह मे बढा दी। वह फैली तो पहिले से ही थी, आपने उसके मुख में उसे फुला दिया। वह मर गया। उसका शरीर फूट की भाँति फट गया। आपने न कोई अस्त्र चलाया न शस्त्र सहज मे ही शत्रु को नष्ट कर दिया ?

भगवान् ने कहा—"फिर वही गोल माल बात। अरे, बाबा! मैंने केशि का निपूदन कर दिया। उसे मार दिया। अच्छा किया, अब तुम अपना अभिप्राय कहो।"

अर्जुन ने कहा—"उस विशाल बाहु को प्रेमपूर्वक मेरे सिर पर रख दो, मेरी समस्त इन्द्रियों को अपनी सेवा में लगालो। केशि रूप जो संशय नाम का एक असुर है उसका नाश कर दो।"

भगवान् ने कहा—"अपने सशय को व्यक्त करो। तुम्हें कौन सा सशय है।"

अर्जुन ने कहा—"मैं सन्यास शब्द का और त्याग शब्द का पृथक् पृथक् तत्त्व जानना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा –"देखो, स और नि दो उपसर्ग हैं अस् धातु से तः प्रत्यय होकर सन्यास शब्द बना है। इसका अर्थ है भली प्रकार जिसने न्यास किया हो वह सन्यास जिसमें हो (सन्यासोऽस्यास्तीति सः सन्यासी) वही सन्यासी है। उसका अर्थ है चतुर्थाश्रमी।"

इसी प्रकार त्यज धातु से घञ् प्रत्यय करने से त्याग शब्द बनता हे। इसका अर्थ है, त्यागना छोडना, दे देना।

यह सुनकर अर्जुन हँस पड़ा। और बोला—"भगवन्! आपकी कृपा से इन शब्दों का अर्थ तो मैं भी जानता हूँ। मेरे पूछने का अभिप्राय इतना ही है कि साख्य मार्ग मे और कर्म मार्ग मे दोनो मे सन्यास और त्याग पर ही सबसे अधिक बल दिया गया है और इन दोनों को आपने निःश्रेयसकर कहा हे। किन्तु आपने बार-बार कर्म करते रहने पर ही बल दिया हे। कहीं कहा हे मेरा स्मरण करते रहो साथ ही युद्ध भी करते रहो (मामनुस्मर युध्य च। कहीं पर कहा हे, आत्म परायण पुरुष को कर्म बन्धन के कारण नहीं हैं। आत्मवन्त न कर्माणि निबध्नन्ति) कहीं कहा हे नव द्वार वाले देह मे रहता देही तो कुछ करता ही नहीं (नव द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन्) कहीं आप कहते हैं—जो कर्मो के फलों का त्याग करके कार्य कर्मो को करता ही रहता हे, वही सन्यासी है (अनाश्रितः कर्म फल कार्यं कर्म करोति यः स सन्यासी) कहीं आप कहते हैं मुझमें सम्पूर्ण कर्मो को अर्पण करके निराशी और निर्मम होकर युद्ध करते रहो (निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व) तो इन बातों से तो यही सिद्ध होता हे कि कर्मो का प्रत्यक्षतः त्याग आपको अभीष्ट नहीं। साख्य योग वालों के सन्यास का अर्थ तो समझ में आ गया वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी कर्म योग के सन्यास का भी तत्त्व हम समझ गये, किन्तु आपके निष्काम कर्म योग या भक्ति योग मार्ग मे सन्यास तथा त्याग का अर्थ क्या? दोनों का एक ही अर्थ ह। इसे मुझे पृथक् करके तत्त्व से समझा दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् निष्काम कर्म योग या भक्ति योग मार्ग के अनुसार जो सन्यास

का अथवा त्याग का जो अर्थ होता है, उसे जैसे बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सांख्य मार्ग में त्याग और सन्यास एक है।
कर्म मार्ग में विप्र लेइँ सन्यास टेक है॥
बिनु वैराग्य न त्याग, त्याग सन्यास कहावै।
सन्यासी बिनु बने मोक्ष नहिँ प्रानी पावै॥
करैं करम निष्काम जे, प्रभु पूजा ही निमित करि।
तहाँ त्याग सन्यास को, तत्त्व बतावैं मोइ हरि॥

त्याग और संन्यास शब्दों का वास्तविक अर्थ

[२]

श्री भगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥*
(श्री भ० गी० १८ अ० २ श्लो०)

छप्पय

सुनि बोले भगवान—त्याग को अरथ बताऊँ।
कहें काहि संन्यास जथारथ मरम जताऊँ॥
कछुक वेदविद कहें—काम्य करमनि को तजिबो।
है वहई संन्यास कामना के बिनु करिबो॥
सब करमनि फल त्याग कूँ, त्याग कहें कछु विचक्षन।
त्याग और संन्यास के, कहे विविध विधि सुलक्षन॥

त्याग कहो सन्यास कहो, त्यागी विरागी कहो संन्यासी कहो, इनका अर्थ एक ही है। न्यास शब्द का अर्थ भी त्यागना

---

* इस पर भगवान् बोले—"काम्य कर्मों के त्याग को ही विज्ञ पुरुष 'सन्यास' के नाम से जानते हैं, वे ही विलक्षण पुरुष सर्व कर्मों के फलों के त्याग को 'त्याग' कहते हैं ॥२॥"

ही है, भली प्रकार त्याग वृत्ति को धारण करके जो बर्ताव करे वही त्यागी है। साधारणतया त्यागी और संन्यासी शब्दों का अर्थ यही लगाया जाता रहा है, कि जो घर, द्वार, कुटुम्ब परिवार सगे सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, पत्नी, सभी से सम्बन्ध छोड़कर सभी का त्याग करके निर्द्वन्द्व होकर विचरण करे। शरीर निर्वाह के लिये चाहे तो घर-घर से मधुकरी माँग ले, चाहे तो इस मधुकरी कर्म को भी छोड़ दे। शरीर यात्रा को प्रारब्ध पर छोड़कर निरन्तर ब्रह्म ध्यान मे ही निमग्न रहे।

हमारे देश मे त्याग वैराग्य का सबसे अधिक महत्त्व था। जो जितना ही बड़ा त्यागी विरागी होता था, वह उतना ही अधिक पूजनीय माना जाता था। समस्त वर्णों मे ब्राह्मण श्रेष्ठ क्यों माना जाता था, इसलिये कि वह त्याग की प्रति मूर्ति होता था, वह कभी किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करता था। ब्राह्मण की चार वृत्ति-आजीविका की साधन भूता—कही गयी हैं। कृच्छ्र वृत्ति, अमृत वृत्ति, मृत वृत्ति और प्रमृत वृत्ति। कृच्छ्र वृत्ति तो यह हैं, कि जैसे पक्षी नित्य दाना चुग-चुगकर निर्वाह करता है, उसी प्रकार उञ्छ वृत्ति करके इधर-उधर पड़े दाने को बीनकर उन्हीं से जीवन निर्वाह करे। दूसरे दिन को कुछ भी न रखे। यह ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठ वृत्ति है। उससे नीची वृत्ति यह है। एक घड़ा भरकर पन्द्रह दिन का अन्न संग्रह कर ले। ये दो तो कृच्छ्र वृत्ति हुई। दूसरी वृत्ति है अमृत वृत्ति। अर्थात् कहीं भी किसी से माँगने न जाय। दैवयोग से जो भी अयाचित जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी मे निर्वाह करे। न प्राप्त हो, तो भूखा रह जाय। तीसरी मृत वृत्ति है। झोली लेकर घर-घर से नित्य जाकर भिक्षा माँग लाये। उसी से निर्वाह करे दूसरे दिन के लिये अन्न संग्रह न करे। चौथी प्रभृत वृत्ति यह है कि खेती करके ६ महीने

के निर्वाह योग्य अन्न रख ले, जब नया अन्न आ जाय, तो पुराने अन्न का परित्याग कर दे, दान दे दे। चारों वृत्तियों मे सग्रह निषेध है। ६ महीने का अन्न सञ्चय करना सबसे निकृष्ट वृत्ति है। दूसरे वर्ण वाले चाहें जितना संग्रह कर ले। त्याग के कारण ही सभी वर्णों मे ब्राह्मण श्रेष्ठ थे।

इसी प्रकार आश्रमों मे संन्यास आश्रम इसीलिये सर्वश्रेष्ठ माना जाता था, कि संन्यासी पर अपनी कहलाने वाली कोई वस्तु रहती ही न थी। शरीर निर्वाह के लिये उसे अधिक से अधिक कौपीन, कटिवस्त्र, कंथा, दन्ड, कमंडलु, डोरी बस, इतनी ही वस्तुएँ रखने का अधिकार था, वह एक का अन्न नहीं खा सकता था। घर-घर से उसे मधुकरी माँगनी पडती थीं। वर्षा के चार महीनो को छोड़कर वह कहीं एक स्थान पर रह नहीं सकता था, पैर से भी युवती स्त्री का स्पर्श नहीं कर सकता था। किसी प्रकार के विषयो का उपभोग नहीं कर सकता था स्वादु अन्न की इच्छा नहीं कर सकता था शरीर को वह फोड़ा के समान समझता था, जैसे फोड़े को पकाने के लिये उस पर आटे की पुलिटिस रखी जाती है। उसी प्रकार इस शरीर के प्रारब्ध समाप्त होने तक भिक्षान्न से उसका पोषण करता था, जैसे फोड़े पर वस्त्र की पट्टी बाँधी जाती है, उसी प्रकार वह कंथा, कौपीन, कटिवस्त्रादि का उपयोग करता था, सन्यासियों में भी जो जितने ही अधिक त्यागी, परमहंस, अवधूत, दिगम्बर होते, वे उतने ही अधिक श्रेष्ठ माने जाते। जो कौपीन तक का भी परित्याग करके दिगम्बर रहते, किसी से कुछ भी नहीं माँगते, ऋषभदेव जी की भाँति अजगर वृत्ति धारण करके निस्पृह हो जाते वे संन्यासियो मे सर्वोत्कृष्ट त्यागी अपरिग्रही माने जाते थे। कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि चाहें पुरुष किसी वर्ण का हो,

किसी आश्रम का हो, उसका श्रेष्ठत्व इसके त्याग वैराग्य में ही था। आर्य धर्मशास्त्रों में त्याग की सबसे बढ़कर महिमा है। उपनिषदों में तो कहा गया है न तो कर्मों के द्वारा, न सन्तानों के द्वारा और न धन के द्वारा अमृतत्व-अर्थात् मोक्ष-की प्राप्ति हो सकती है। केवल एक मात्र त्याग के ही द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। शुभ कर्म, अच्छी सन्तान सत् धन इनके द्वारा पुण्य कर्म हो सकते हैं, पुण्य कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि हो सकती है शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान हो सकता है। फिर ज्ञान के द्वारा मुक्ति हो सकती है। इस प्रकार कर्म, सन्तान तथा धन परम्परा मुक्ति में कारण भले ही हो, प्रत्यक्ष-सीधे-कारण नहीं है, किन्तु त्याग तो मुक्ति में प्रत्यक्ष कारण है। मोह के क्षय का-त्याग का-ही नाम तो मोक्ष है। इसी लिये मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—"वेदान्त विज्ञान के द्वारा जिन्होंने अर्थ का सुनिश्चय कर लिया है, ऐसे यतिगण जिनका संन्यास योग द्वारा चित्त शुद्ध हो गया है वे सभी परात काल में ब्रह्मलोक में जाकर परामृत स्वरूप होकर ससार बन्धन से छूट जायेंगे।"

इन सब वचनों का एक मात्र सार यही है कि त्याग के बिना-सर्व कर्म सन्यास के बिना-अन्तिम जो परम पुरुषार्थ मुक्ति है, उसकी प्राप्ति हो नहीं सकती। इसीलिये सांख्य मार्ग वालों का अर्थात् ज्ञान मार्गियों का लक्ष्य सर्व कर्म संन्यास ही है और वर्णाश्रम धर्मी अर्थात् कर्म मार्गियों की भी अन्तिम सीढ़ी संन्यास ही है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र इन दोनों मार्गों से विलक्षण एक मध्यम मार्ग-निष्काम कर्म योग-अथवा भक्ति योग बता रहे हैं। उसमें सन्यास का क्या स्वरूप होगा। इसीलिये वे सन्यास और त्याग का तत्त्व पूछ रहे हैं संन्यास और त्याग किस धातु

से किस प्रत्यय से बने हैं, इन शब्दों का धात्वर्थ क्या हैं, यह उनके प्रश्न का अभिप्राय नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब निष्काम कर्मयोग के अनुसार अर्जुन ने भगवान् से 'संन्यास' तथा त्याग का अर्थ पूछा तो भगवान् ने कहा—"देखो, तुम्हारे दो प्रश्न हे, तुम संन्यास का और त्याग का दोनो का पृथक् पृथक् अर्थ पूछ रहे हो। सो, सुनो। जो कवि हैं ज्ञानी पुरुष हैं, वे काम्य कर्मों के परित्याग को-छोड़ने को-संन्यास कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"काम्य कर्म क्या ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, कर्म चार प्रकार के होते हैं। (१) नित्य कर्म, जैसे सन्ध्या-वंदन, तर्पणादि। (२) दूसरे नैमित्तिक कर्म, निमित्त आने पर जैसे सूर्य-चन्द्रग्रहण लगने पर, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, चातुर्मास्य तथा अन्यान्य पर्व आने पर उनके निमित्त किये जाने वाले कर्म। (३) काम्य कर्म, जैसे पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ करना, स्वर्ग की कामना से अश्वमेधादि यज्ञों को करना। जो फल की कामना से किये जाने वाले यज्ञ, दान तथा तपादि शुभ कर्म। (४) भगवत् सेवा सम्बन्धी कर्म—जैसे भगवान् के निमित्त तुलसी, पुष्पादि संग्रह करना, माला बनाना, नैवेद्यादि बनाना, जो भी कार्य भगवत् सेवा सम्बन्ध के लिये, किये गये हो। ये ही चार प्रकार के किये जाने योग्य कर्म है।"

अर्जुन ने कहा - "एक निषिद्ध भी तो कर्म हैं ?"

भगवान् ने कहा—"यहाँ करने योग्य कर्म तो चार ही हैं। निषिद्ध कर्म तो त्याज्य हैं, उन्हे तो सभी को त्यागना चाहिये। इसीलिये जो कर्म किये जाते हैं, वे नित्य, नैमित्तिक, काम्य और भगवदीय कर्म। तो स्त्री, धन सन्तान तथा स्वर्गादि

लोकों को लक्ष्य करके इनकी प्राप्ति की कामना के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें छोड़कर शेष तीनों प्रकारों के कर्मों को निष्काम भाव से करता रहे। इससे सिद्ध हुआ कि काम्य कर्मों के न्यास-अर्थात् त्याग-को ही संन्यास कहते हैं।

अर्जुन ने कहा—"जैसे काम्य कर्मों को त्याग देते हैं, वैसे ही नित्य, नैमित्तिक और भगवत् सम्बन्धी कार्यों को क्यों न त्याग दें ?"

भगवान् ने कहा—"नित्य नैमित्तिक कर्मों को यदि भगवत् प्रीत्यर्थ निष्काम भाव से करता रहे, तो इसमें हानि ही क्या है। भगवान् के निमित्त तो कर्म करने ही चाहिये ये कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। भगवान् के प्रीतिभाजन बनने की कामना-कामना नहीं कहलाती। कामना तो स्त्री, धन, पुत्र परिवार तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति की इच्छा को कहते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"काम्य कर्मों के त्याग का नाम तो संन्यास हुआ। अब त्याग का तत्त्व और समझा दें ?"

भगवान् ने कहा—"समस्त कर्मों के फल के त्याग को विचार कुशल पुरुष त्याग कहते हैं। अर्थात् जो भी कर्म करे उसका फल न चाहे. कर्तव्य बुद्धि से करता रहे यही त्याग है। फल का त्याग ही त्याग कहलाता है, वैसे कर्मों का त्याग तो सम्भव ही नहीं। स्वाँस लेना, पलक मारना, पैरों को उठाना धरना, हाथों से वस्तुओं को पकड़ना, उछालना उठाना, तोड़ना जोड़ना ये सब के सब कर्म ही हैं। अतः कर्मों का त्याग तो सम्भव ही नहीं। त्याग कर्मों के फलों का ही होता है।"

अर्जुन ने कहा—"तो क्या समस्त मनीषी पुरुषों का, समस्त बुद्धिमान् जनों का, इस विषय में एक ही मत है कि सभी कर्मों के फल का ही नाम 'त्याग' है।

भगवान् ने कहा—"नहीं, सबका एक मत नहीं है। इस विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

अर्जुन ने कहा—"तब उन भिन्न-भिन्न विचार वाले विद्वानों के मतों को भी मुझे बताइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् त्याग के सम्बन्ध में जैसे भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों को बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

नित्त और नैमित्त काम्य श्री हरि पूजन हित।
कहे चारि विधि करम करैं प्रानी दैकैं चित॥
करैं कामना हेतु काम्य सो करम कहावैं।
उनि करमानि कूँ त्यागि शेष सब करैं करावैं॥
किन्तु करैं निष्काम है ताहि कहैं सन्यास बुध।
सरब करम फल त्यागिबो, यही त्याग है परम शुध॥

त्याग संन्यास के सम्बन्ध में विभिन्न मत

[३]

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० ३,४ श्लो०)

छप्पय

कछुक मनीषी कहें—दोषयुत सकल करम हैं ।
त्याग सबनि को करै वेद को जिही मरम हैं ॥
शुभ होवैं वा अशुभ मात्र सब करम दोष युत ।
तातैं तजि सब करम, होहि निष्करम वेदवित ॥
कछुक कहत जो कामयुत, त्यागे उनि जो भोग्य हैं ।
यज्ञ दान तप शुभ करम, कबहुँ न त्यागन जोग्य हैं ॥

---

* कुछ मनीषी ऐसा भी कहते हैं, समस्त कर्म ही दोष युक्त हैं, इसलिये कर्ममात्र का ही त्यागना चाहिये । दूसरों का मत है यज्ञ, दान और तपादि जो कर्म हैं, उनका त्याग नहीं करना चाहिये ॥३॥

हे भरतसत्तम ! इन दोनों पक्षों में मेरा अपना जो निश्चय है तुम उसे भी सुन लो हे पुरुष सिंह ! देखो त्याग भी तीन ही प्रकार का बताया गया है ॥४॥

दो प्रकार के संन्यासी होते हैं, एक ज्ञान मार्गीय दूसरे कर्म मार्गीय। ज्ञान मार्गी सन्यासी के लिये कोई नियम नहीं है, कब सन्यास ले। जिस समय भी विराग हो जाय उसी समय सर्वस्व त्याग कर अनिकेत अलिंग होकर विचरे किसी प्रकार का संग्रह न करे। जैसे शुकदेव जी, दत्तात्रेय, जड़भरत, वामदेवादि सन्यासी गण। इन लोगों को न देव ऋण लागू होता है, न ऋषि ऋण और न पितृ ऋण। ये लोग समस्त कर्तव्य अकर्तव्य से परे होते हैं। किसी भी सकाम या निष्काम कर्म को सकल्प-पूर्वक नहीं करते। इन्द्रियाँ इन्द्रियों के कार्यों में स्वभावानुसार वर्तती रहती हैं, उनमे इनकी अहङ्कृति नहीं होती।

दूसरे सन्यासी कर्म मार्गीय होते हैं। उन लोगों का सिद्धान्त है। जो भी पुरुप उत्पन्न होता है, उसके शिर पर तीन ऋण होते हैं, ऋषि ऋण, पितृ ऋण और देव ऋण। इन तीनों से जो बिना उऋण हुए मर जाता है, उसका पतन होता है। अतः ऋषियो के ऋण से तो वेदों का अध्ययन अध्यापन करके उऋण हुआ जाता है। ऋषियो ने कितने कष्ट सह-सहकर कितना घोर तप करके वेदों की ऋचाओं का साक्षात्कार किया। वेदो के मत्रों को देखा, उनका प्राकट्य किया। इसीलिये किया कि लोग वेदों को पढ़ेगे पढ़ावेंगे, एक वैदिक परम्परा अक्षुण्ण बनी रहेगी। इस परम्परा का जो अनादर करते हैं, वे ऋषियों के कोपभाजन होते हैं। अतः वेदो का वेदाङ्गों का अध्ययन अध्यापन करके ऋषियों का ऋण चुकाया जा सकता है।

देवगण कृपा करके जल वर्षाते हे। हमारी इन्द्रियों का संचालन करते हैं। वे रोटी दाल भात नहीं खाते। वे यज्ञीय धूम को सूँघकर तृप्त होते हैं। उनका मुख अग्नि है, अग्नि के मुख से

ही देवगण खाते हैं। अतः नित्य, नैमित्तिक तथा पशुयज्ञ, सोम-यज्ञादि करके उनके ऋण से उऋण हुआ जा सकता है।

ऋषि तथा, देवताओं के ऋणी होने के साथ ही हम अपने पितरों के भी ऋणी हैं। हमारे पिता को यदि हमारे पितामह पैदा न करते, तो हमारा शरीर कैसे पैदा हो सकता था। हमारा जो शरीर है, वह हमारे पिता, पितामह, प्रपितामह वृद्ध प्रपितामह आदि पितरों की धरोहर है। जैसे हमारे वृद्ध प्रपितामह धरोहर रूप में हमारे प्रपितामह के शरीर को छोड़ गये। यदि हमारे प्रपितामह, हमारे पितामह के शरीर को न पैदा करते, तो हमारी वंश परम्परा कैसे चलती। जैसे हमारे वृद्ध प्रपितामह हमारे प्रपितामह को छोड़ गये और हमारे प्रपितामह, पितामह को, पितामह हमारे पिता को छोड़ गये और पिता हमें छोड़ गये इसी प्रकार हमें भी अपने पुत्र और पौत्रों को छोड़ना चाहिये, नहीं तो हम पितरों के ऋणी रहेंगे, उनके कोपभाजन बनेंगे, पितरों को जल दान पिंड दान कौन देगा। अतः प्रत्येक गृहस्थी का कर्तव्य है वह पुत्र पैदा आवश्यक करे। जो अपुत्री हैं उस की गति नहीं। अतः ब्रह्मचर्य में ऋषि ऋण से, गृहस्थ में देव ऋण तथा पितृ ऋण से उऋण होकर, वन में जाय। अथवा संन्यास ले ले। समस्त कर्मों का त्याग कर दे। क्रम-क्रम से वैराग्य को तितिक्षा को बढ़ाता जाय और उसी प्रकार त्याग की मात्रा में भी वृद्धि करता जाय।

जैसे प्रथम तो कुटीचक सन्यासी बने। जब पुत्र के भी पुत्र हो जाय और ऋषि, देव तथा पितृ ऋणों से उऋण हो जाय, तो ग्राम के ही समीप कुटी बनाकर रहे, मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहे। उसके पुत्र पौत्र कर्मी बनाई भिक्षा दे जायँ उसी पर निर्वाह करे। किसी से याचना न करे। भिक्षा

सूत्र धारण किये रहे। मिताहार करे। केवल शरीर निर्वाह के हेतु आठ ग्रास ही नित्य खाय। गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि महर्पिगण ऐसे ही कुटीचक संन्यासी हैं।

वहूदक वे सन्यासी कहलाते हैं, जो घर के लोगों से भिक्षा का भी सम्बन्ध नहीं रखते। कायिक वाचिक तथा मानसिक प्रतीक रूप से त्रिदंड धारण करके शिखा, यज्ञोपवीत को धारण किये हुए दड कमडलु कौपीन कथा सहित जो लोग मांस मदिरा का सेवन न करते हों, ऐसे सदाचार परायण सद् गृहस्थों के यहाँ से भिक्षा माँगकर अष्ट ग्रास, नित्य खाते हुए, पृथ्वी का परिभ्रमण करते रहते हैं। केवल मोक्ष प्राप्ति के ही लिये सदा सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं।

हंस वे सन्यासी कहलाते हैं जो एक स्थान पर निवास नहीं करते। छोटे ग्राम मे एक रात्रि, वडे नगर मे पाँच रात्रि, तीर्थ क्षेत्र में सात रात्रि और वर्षा के चारमासो को छोडकर जो कहीं अधिक निवास नहीं करते। जो निरन्तर चान्द्रायणादि व्रत ही करते रहते हैं। नित्य आठ ग्रास खाना सम चान्द्रायण व्रत ही है।

चौथे जो परमहस सन्यासी हैं, वे भी भिक्षा माँगकर केवल आठ ग्रास ही खाते हैं। वे भले ही कौपीन पहिने हों या दिगंबर ही रहें। रहने को वे वृक्ष के नीचे, शून्य गृहों में, श्मशान में, देव मदिर, वन की घास फूँस की कुटी में, कुंभकार के अवा के समीप, यज्ञशाला, नदी तट, पहाडों की गुफा, या कहीं भी निर्जन स्थानों में पडे रहें। उनमें बहुत से शिखा सूत्र को धारण किये रहते हैं, वहुत से उनके बंधन में बँधे नहीं रहते। जैसे जड भरत जी परमहंस ही थे, फिर भी शिखा सूत्र धारण किये रहते थे। इन परमहसों में वृहस्पति जी के भाई संवर्तक मुनि, महर्षि

आरुणि, श्वेतकेतु, जड़ भरत, दत्तात्रेय शुक, वामदेव, हारीतक आदि बहुत से महर्षि हो गये हैं। ये सब के सब सर्व कर्म त्यागी थे। इस प्रकार ज्ञान संन्यासी तथा कर्म संन्यासी अंत में दोनों ही सभी कर्मों का परित्याग करके ही सन्यासी कहलाते थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी गीता में एक तीसरे संन्यासी को बताते है, जो समस्त काम्य कर्मों का तो परित्याग कर दे, किन्तु निष्काम भाव से–लोक संग्रह के निमित्त–प्रभु पूजा समझ कर कर्मों के त्याग का आग्रह करे नहीं, उनके फलों का सर्वथा त्याग कर दे। वे स्वरूपतः कर्मों के त्याग पर बल नहीं देते। ऐसा संन्यासी निष्काम भाव से कर्म करता हुआ भी संन्यासी ही समझा जायगा, उसे कर्मों के करने का कुछ भी दोष न लगेगा। जैसे महाराज जनक ऐसे ही निष्काम कर्म योगी सन्यासी थे। राज्य पाट के समस्त कार्य करते हुए भी वे उनमें सदा निर्लिप्त रहते।

एक बार महाराज जनक समस्त राज्य काज छोड़कर सन्यासी बन गये। वे भिक्षा पर निर्वाह करने लगे। वृक्ष के नीचे या शून्य घरों मे रहते, किसी प्रकार का संग्रह नहीं करते। तब राज्य में बड़ी गड़बड़ी हो गयी, चारों ओर अराजकता फैल गयी। तब उनकी रानी ने जाकर उन्हें समझाया। महाराज! यह भी तो अज्ञान ही है कि यह मेरा घर है यह पराया घर है। भिक्षा लेने तो आप गृहस्थियों के घरों में जाते ही हो। मेरे घर से भिक्षा लेने में क्या हानि है। शून्य घरों में तो रहते ही हो। मेरे महलों में रहो तो वे भी तो घर ही है। कोई सन्यासी का वेष बना लेने, से भिक्षा माँगने से, काषाय धारण मात्र से ही तो सन्यासी नहीं बन जाता। उद्देश्य तो मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष ज्ञान से होते हैं। वेष से नहीं।"

इन सब बातों का अनुमोदन महाराज जनक के गुरु ने भी किया, उन्होंने बताया राजन तीन मार्ग हैं। ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और निष्काम कर्मयोग मार्ग, आप इस तीसरे ही मार्ग का अनुसरण करो। महाभारत में इस मार्ग का विशद वर्णन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—क्या त्याग और सन्यास के सम्बन्ध में सभी मनीषियों का एक ही मत है, या उनमें कुछ मतभेद भी है। यदि मतभेद है तो उसे मुझे बताइये। इस पर भगवान् ने कहा—"देखो, अर्जुन! कुछ मनीषियों का मत तो यह है, समस्त कर्म दोषमय हैं। कोई ऐसा कर्म नहीं जिसमें कुछ न कुछ दोष लगा हुआ न हो, जैसे कहीं भी किसी में भी अग्नि प्रकट करो, अग्नि के साथ धूँआ अवश्य ही होगा। कर्म मात्र दोषमय हैं। अतः उनका कहना है, कि सभी कर्मों को स्वरूपत छोड ही देना चाहिए। कैसे भी कर्म करो वे किसी न किसी रूप में बन्धन का कारण होंगे ही। इसलिये जैसे अन्त:करण के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सरादि का त्याग करना ही चाहिये उसी प्रकार समस्त लौकिक पारलौकिक कर्मों का त्यागकर देना चाहिये।"

दूसरे मनीषियों का मत यह है, कि भाई, निषिद्ध कर्म हैं जैसे असत्यभाषण, चोरी कर्म, द्यूतकर्म, व्यभिचार कर्म इन कर्मों को तो अवश्य छोड देना चाहिये। किन्तु जो कर्म अन्त करण की शुद्धि में कारण हों, उन कर्मों का कभी भी परित्याग न करना चाहिये। जैसे यज्ञयागादि करना, दान देना, तप करना आदि आदि। ये तो शुभ कर्म हैं, इनसे तो प्रजा में धर्मभाव जागृत होते हैं।

अर्जुन ने कहा—"आपने भिन्न भिन्न ऋषियों के ये दो मत

बताये इनमें से आपको कौन सा मत अभीष्ट है। आपका इस विषय में क्या मत है? आप इन दोनों में से किस मत से सहमत हैं?"

भगवान् ने कहा—"मेरा अपना भी यही मत है, कि काम्य कर्मों का तो परित्याग करना चाहिये, किन्तु जो कर्म जीवों को पावन बनाने वाले हैं उन यज्ञ, दान और तपादि पवित्र कर्मों का परित्याग न करना चाहिये।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो मतभेद बना ही रहा। आप एक बात निश्चय करके बता दें।"

भगवान ने कहा—"अच्छा, तुम त्याग के सम्बन्ध में मेरा दृढ निश्चय मत जानना चाहते हो, तो देखो, मैं तुम्हें इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार के साथ बताना चाहता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"हाँ भगवन्! यह विषय बहुत आवश्यक है और गम्भीर है इसे तनिक विस्तार के साथ बतावें।"

भगवान् ने कहा—"पीछे मैं तुम्हें आहार, यज्ञ, दान तथा तप के तीन तीन भेद बता चुका हूँ, उसी प्रकार हे पुरुष सिंह! त्याग भी तीन प्रकार का बताया गया है।"

अर्जुन ने कहा—"मैं प्रकार नहीं पूछ रहा हूँ। प्रकारों को तो आप पीछे बतावें। अब तो आप यही बतावें कि सर्व कर्मों का स्वरूपतः त्याग आपके मत में श्रेष्ठ है या यज्ञ, दान, और तपादि पवित्र कर्मों को करते रहना सर्वश्रेष्ठ है। गोलमाल न बताइये अपना इस विषय में निश्चित मत बताकर तब तीन प्रकार के त्यागों की व्याख्या कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर अब भगवान् इस विषय में जो अपना निश्चित मत है, उसे जैसे बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

तुमरो का सिद्धान्त बताओ नाथ ! कृपा करि ।
मम निश्चित सिद्धान्त बताऊँ बोले श्रीहरि ॥
भरतवंश-अवतंस ! पार्थ ! मम निश्चित बानी ।
त्याग अरथ सुनि लेउ बात प्रभु मैंने जानी ॥
पुरुष सिंह ! जो त्याग है, तीनि भाँति को सो कह्यो ।
सात्विक, राजस, तामसिक, गुन भेदनि बहु विधि भयो ॥

भगवान् का निश्चय मत यह है शुभ कर्मों को अनासक्त होकर करता ही रहे

(४)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ *

(श्री० भग० गी० १८ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

निश्चित मत मम जिहि काम्य करमनि तैं भागै ।
यज्ञ दान तप करम कबहुँ इनकूँ नहिँ त्यागै ॥
करतव हैं जे करम नहीं कछु हानि करन में ।
शुभ करमनि शुभ होहि सहायक दोष हरन में ॥
यज्ञ दान तप करम सब, विज्ञ मनीसी जननि कूँ ।
मेंटे मनके मलनि कूँ, पावन करि पावननि कूँ ॥

---

* यज्ञ, दान और तप ये जो कर्म हैं, इनका त्याग न करे । यही नहीं इन्हें तो करना ही चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये कर्म तो विज्ञ पुरुषों को पावन बनाने वाले हैं । ५॥

इन कर्मों को तो फल तथा आसक्ति का परित्याग करके करना ही चाहिये । हे पार्थ ! यह मेरा निश्चित मत है और यही मत उत्तम भी है ॥६ ।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले कर्म दूसरे लोक के अपकारी और तीसरे लोकोपकारी कर्म। स्वाभाविक प्रवृति वाले तो वे कर्म हैं, जो बिना सिखाये जीव स्वाभाविक रूप से करने लगता है। जैसे स्वादिष्ट भोजन, मादक द्रव्यों का सेवन और मैथुनादि। ये कर्म संसार बन्धन को बढाने वाले हैं। बार-बार जन्म और मृत्यु के क्लेशों को देने वाले हैं, अतः इनसे जितना ही दूर रहा जाय उतना ही उत्तम है। सर्वथा दूर न रह सके, तो इन्हे एक मर्यादा के भीतर करे और उस करने का भी लक्ष्य इनका परित्याग ही हो जैसे मांस-भक्षण में किसी का राग है, और उसका प्रयत्न करने पर भी त्याग सम्भव न हो, तो केवल यज्ञ में ही उसका उपयोग करे। यज्ञ के अतिरिक्त कभी भी न करे। यदि पान ही करना हो तो सौत्रामणि आदि यज्ञों मे करे। जहाँ तक हो सूँघकर ही विधि को पूरा कर दे। मैथुन का सर्वथा त्याग न कर सकता हो, तो विवाह कर ले। एक पत्नीव्रत धारण करे, अपनी पत्नी में भी केवल ऋतुकाल मे ही गमन करे। इस विधि को परिसंख्या विधि कहते हैं। इन कार्यों को परिसंख्या पूर्वक मर्यादा में रह कर करे, अमर्यादित रूप से इन कर्मों को न करे और करते समय भी सोच ले कि मुझे इनका अन्त में परित्याग करना है। इन कर्मों के करने मे स्वाभाविक प्रवृत्ति का संकोच है।

दूसरे लोक के अपकारी कर्म—जैसे हिंसा करना, चोरी करना, व्यभिचार करना तथा दूसरों को सन्ताप देकर, दीन बनकर दूसरों से याचना करके, तथा अपने तथा पराये शरीरों को पीड़ा देकर विषय भोगों के लिये सामग्री एकत्रित करना। इन कर्मों से जगत का अपकार होता है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, उनके जीवन की इच्छा के विरुद्ध उन्हें मार देना कैसा भारी पाप है। कभी

लोग चाहते हैं हमारी वहिन वेटी, मातायें सदाचारिणी रहें। वे पर पुरुप से सम्बन्ध न रखें। उनकी इच्छा को हनन करके आप परस्त्री से ससर्ग रखते हैं, तो लोक का वडा अपकार करते हैं। सभी चाहते हैं हमें कोई सताप न पहुँचावे, गाली न दे। दीनता न धारण करनी पडे। आप उनकी इच्छा के विरुद्ध दूसरों को सन्ताप पहुँचाते हैं, गाली देते हैं, उन्हें दीन वनाने को विवश करते हैं, तो ससार का अपकार करते हैं। ऐसे लोकों के अपकारी कर्मों को सदा त्याग देना चाहिये।

तीसरे कुछ ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे लोक का उपकार ही होता है। जैसे यज्ञकर्म है। अग्नि में पवित्र वस्तुओं को हवन करने का ही नाम यज्ञ है। हम यज्ञ आरम्भ करते हैं, तो आरम्भ करते समय ही कितने श्रमजीवियों का उपकार होता है। भूमि एक सी करने में, ईंट लाने मे मडप आच्छादन करने में, भूमि को लीपने-पोतने वनाने मे कितने श्रमजीवियों को कार्य मिलता है। कितनों की आजीविका चलती है। अन्न पानी एकत्रित करने में, करई, कसोरा, पत्तल, ईंधनादि लाने में कितने लोगों की उदर पूर्ति होती है। यह तो श्रमजीवियों का उपकार हुआ। फिर जो बुद्धि जीवी हैं, वेदपाठी है, उन्हें वेद पाठ का सुअवसर मिलता है, उन्हें दान दक्षिणा की उपलब्धि होती है। इस प्रकार बुद्धि जीवियों का भी उसके द्वारा उपकार होता है। लोगों को पठन-पाठन के प्रति उत्साह मिलता है।

आप एक सेर घृत को यदि स्वय खालें, तो उससे कुछ तो आपका मेद वल वढ जायगा। कुछ विष्ठा वन जायगी। उससे आपके ही शरीर का थोडा वहुत लाभ होगा। उसी घृत को आप मन्त्रों द्वारा अग्नि में हवन कर दें, तो उससे देवताओं की तृप्ति होगी। उसकी जो सुगन्धि फैलेगी, उससे वातावरण शुद्ध होगा,

जिसकी नासिका में भी वह सुगन्धि जायगी वही प्रसन्न तथा प्रफुल्लित हो जायगा। उस यज्ञ धूम से कितने लोगों का मनःप्रसाद होगा। यह कितना भारी लोक का उपकार है।

अन्न बहुल को ही यज्ञ कहते हैं जिसमें यथेष्ट अन्नदान दिया जाय, किसी को भी विमुख न लौटाया जाय। भूखों को भर पेट स्वादिष्ट अन्न खाने को दिया जाय। यज्ञ के द्वारा कितने जीवों की उदर पूर्ति होगी। इन कारणों से यज्ञ लोकोपकारी कार्य है। यह पावन कर्म अन्तःकरण को विमल बनाने वाला है, इसमें लोकों का उपकार ही उपकार है। यज्ञ शब्द के अन्तर्गत ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ, कर्मयज्ञ, तपयज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ तथा ज्ञानयज्ञादि अनेक यज्ञों का समावेश हो जाता है। किन्तु यहाँ यज्ञ शब्द से अग्नि में जो होम किया जाता है उसी से तात्पर्य है और यह परम पावन कर्म है।

इसी प्रकार दान भी बहुत लोकोपकारी कर्म है। देवता ब्राह्मण तथा मान्य व्यक्तियों को—सुपात्रों को—जो श्रद्धा से वस्तु दी जाती है उसे ही दान कहते हैं जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, उसे वह वस्तु दे देना वह भी दान है। जैसे कोई रोगी है उसे औषधि की आवश्यकता है, तो कैसा भी रोगी हो, उसे उसके रोग की औषधि दे देना औषधि दान ही है। उसमें पात्र अपात्र का विचार न करे। रोगी होना ही उसकी पात्रता है। कोई भूखा है, वह किसी भी जातिवर्ण आश्रम का क्यों न हो, बिना विचारे उसे भोजन करा देना अन्नदान। भूखा होना ही भोजन दान में पात्रता है।

कोई प्यासा है, वह चाहे कोई भी क्यों न हो जीव मात्र को प्यास लगने पर जल पिलाना जल का दान है। पिपासित होना ही जलदान की पात्रता है। कोई पढ़ना चाहता है और उसमें

पठन-पाठन की योग्यता है, तो उसे उसकी योग्यतानुसार विद्या पढ़ा देना ही विद्यादान है। इसी प्रकार सबके लिये समझना चाहिये।

दान कर्म से लोगों का उपकार होता है। अर्थियों को आवश्यक वस्तुएँ मिल जाती हैं। जीवों को प्रसन्नता होती है। दानदाता जिन वस्तुओं का दान देता है उन्हें लाने ले जाने में पैदा करने मे अन्य लोगो को आजीविका चलती है, अतः दान कर्म पवित्र कर्म है।

दान की ही भाँति तप भी है। यद्यपि तप को एक ही व्यक्ति करता है, किन्तु उसका प्रभाव प्राणिमात्र पर पड़ता है। जैसे ध्रुवजी ने तपस्या की थी। उन्होंने अंत में स्वाँस लेना भी बन्द कर दिया था, इससे समस्त जीवों को स्वाँस लेने में अवरोध होने लगा। तब भगवान् ने उसे अभीष्ट वर देकर तप से निवृत्त किया। जिस देश में तपस्वी ब्राह्मण निवास करते हैं, वह पूरा का पूरा देश पावन बन जाता है। संसार मे ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो तप द्वारा सिद्ध न हो सकता हो, पार्वती जी ने तप द्वारा ही शिवजी को प्राप्त कर लिया। ब्रह्माजी तप द्वारा ही सृष्टि करने में समर्थ हो सके। भगवान् विष्णु तप के ही द्वारा लोकों का पालन करते हैं। जिस देश में तपस्वियों का अभाव होता है, वही देश, विलासी स्वार्थ परायण, पर पीड़क, दुराचाररत तथा भौतिकवादी बन जाता है, अतः तप से बढ़कर परम पावन कर्म कोई नहीं।

इतना होने पर भी इन कर्मों में एक ही दोष है। वैसे तो ये कर्म पावन हैं, मोक्ष को देने वाले हैं, किन्तु ये कर्म यदि फल की आशा से, आसक्ति पूर्वक सकाम भाव से किये जायँ, तो इनका महत्त्व सीमित हो जाता है। फिर ये अनन्तता को प्राप्त

नहीं होते। जैसे यज्ञ हैं, निष्काम भाव से किसी भी संसारी फल की आशा न रख कर प्रभु प्रीत्यर्थ किये जायँ, तो लोक का उपकार होगा। और कर्ता को मोक्ष की प्राप्ति होगी।

इसी प्रकार दान है। वह ग्रहों की शांति के लिये, रोग निवृत्ति के लिये अथवा स्वर्ग में भोगों की प्राप्ति के लिये किया जाय, तो फिर वह सकाम दान सीमित फल देने वाला हो गया। यदि वही दान निष्काम भाव से भगवत् प्रीत्यर्थ किया जाय तो उसका फल अनन्त होगा और उस निष्काम दान से मोक्ष की प्राप्ति होगी।

यही बात तप के सम्बन्ध में है, सकाम तप होगा, तो उससे अन्य जीवों का विशेष उपकार न होगा, आपका यदि वह तप संसिधि हो गया, तो आपको केवल संकल्पित वस्तु की ही प्राप्ति हो जायगी। यदि वही तप निष्काम भाव से परमात्मा की प्रीति के निमित्त किया जाय तो सोने में सुगन्ध है। अतः कर्म तो ये सभी बड़े पावन हैं, सकाम निष्काम कैसे भी करो शुभ ही फल देंगे। यदि निष्काम भाव से ये पावन कर्म किये जायँ, तो कर्म जनित दोष तो लगने का ही नहीं। उलटे विश्व का इन कर्मों से कल्याण ही होगा। अतः जो लोग त्याग की झोंक में इन पावन कर्मों के भी त्याग का आग्रह करते हैं, वे भोले हैं। भगवान् कहते हैं भाई, जब तक शरीर है, तब तक कुछ न कुछ काम तो होता ही रहेगा। अतः स्पृहा, इच्छा, कामना, सङ्ग का परित्याग करके इन पावन कर्मों को करते ही रहे तो इनके करने से कर्म-बन्धन नहीं हो सकता। ऐसी मेरी निश्चित मति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने शुभ कर्मों का भी स्वरूपतः त्याग और शुभ कर्मों के फल मात्र का त्याग इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है और भगवान् का इस विषय में निश्चित

मत क्या है, यह बात पूछी तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुम यदि इस विषय मे मेरा ही मत पूछते हो, तो मैं तो कहता हूँ चाहे कितना भी ज्ञान हो गया हो, कितना भी विषयों से वैराग्य हो गया हो, यज्ञदान और तपादि जो परम पावन लोकोपकारी शुभ कर्म हैं, इन्हे तो कभी छोड़ना ही न चाहिये।"

अर्जुन ने कहा—"संन्यास ले ले तो भी इन कर्मों को करता ही रहे?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अरे, संन्यास कहीं हाट मे बिकता थोड़े ही है, जो उसे लेले-क्रय कर ले। संन्यास तो एक अन्तःकरण की वृत्ति है। मन की एक स्थिति है। संन्यास लेने पर भी भिक्षा माँगना, मलमूत्र विसर्जन करना, निद्रा लेना, क्षौर कराना, दंडकमंलु को स्वच्छ रखना आदि कर्म करते ही हो तो आसक्ति छोड़कर ये यज्ञ दान तपादि शुभ कर्म किये जायँ तो आपत्ति क्या है। इन कर्मों को तो करना ही चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—'क्यों करना चाहिये? इन कर्मों के प्रति आपका इतना आग्रह क्यों है?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई आग्रह नहीं है। एक व्यवहार की बात कहता हूँ यज्ञ, दान, तपादि पवित्र कर्म बुद्धिमान पुरुषों को भी पवित्र करने वाले हैं।"

अर्जुन ने कहा—"करना ही चाहिये, यह तो विधि वचन हो गया। संन्यासी तो विधि निषेध दोनों से परे है। वह जैसे निषिद्ध कर्मों के करने से दोषी होता है वैसे ही विधि विहित कर्मों के करने से भी उसे बन्धन होता है।"

भगवान् ने कहा—"बन्धन का कारण कर्म नहीं हुआ करते। बन्धन का कारण तो आसक्ति है, फलकी इच्छा है, किसी प्रकार की कामना रखकर कर्म करने से बन्धन होता है। इसलिये

भैया! यज्ञ, दान तप कर्मों को फलों की इच्छा को त्यागकर तथा आसक्ति का परित्याग करके करते रहना चाहिये। इन कर्मों को छोड़ने का आग्रह न करे। करता ही रहे। यही मेरा निश्चित मत है। और मेरे मतानुसार यह मत सर्वोत्तम है सर्व श्रेष्ठ है।"

अर्जुन ने कहा—"तब यह तो निश्चय हो गया कि आपके मत से आसक्ति को छोड़कर तथा फलेच्छा को छोड़कर शुभ कर्मों को करते ही रहना चाहिये। अब आपने जो त्याग के तीन प्रकार के भेद बताये थे उन्हें और समझा दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अर्जुन के पूछने पर भगवान् जैसे त्याग के त्रिविध भेद बतावेंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ये जो मैंने करम बताये अति ई पावन।
यज्ञ दान तप तथा अन्य पावन मन भावन॥
करै सदा निष्काम भाव तैं फल सब तजि कैं।
करै नहीं आसक्ति नाम मेरे कूँ भजि कैं॥
त्यागो सबई करम कूँ, अज्ञनि की यह भ्रान्ति है।
त्यागि करम फल शुभ करो मम निश्चित सिद्धान्त है॥

त्रिविध त्याग

[५]

नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥
दुःखमित्येन यत्कर्म कायक्लेश भयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजस त्याग नैव त्याग फल लभेत् ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियत क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्ग त्यक्त्वा फल चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ०, ७ ८ ६ श्लो०)

छप्पय

सोचो तो तुम पार्थ ! नियत करमनि को त्यागन ।
हठ पूर्वक तुम तजो होहिगो कैसे पालन ॥
तातैं जो हैं नियत रूप तैं तिनहिँ न त्यागो ।
तिनिमें नहिँ आसक्ति करो विषयनि तैं भागो ॥
नियत करम को मोह तैं, अज्ञानी नर जो तजहिँ ।
तिनिको तामस त्याग है, वे न मुक्ति पदवी लहहिँ ॥

---

* नियत कर्म का त्याग करना उचित नहीं, उसका मोह से जो त्याग करते हैं, उस त्याग को तामस त्याग कहा गया है ॥७॥

जो कर्म किया जाता है, वह दुःख स्वरूप है, ऐसा मानकर काय-क्लेश भय से जो कर्म को त्याग देता है वह त्याग राजस है, पुरुष

त्याग बड़ा शुद्ध गुण है, यदि जितेन्द्रिय होकर निष्काम भाव से वैराग्य पूर्वक त्याग किया जाय, तो वह मोक्ष का कारण है। यह सिद्धान्त है वैराग्य के बिना त्याग टिकाऊ नहीं होता। यद्यपि त्याग से ज्ञान होता है और ज्ञान से मुक्ति होती है, त्याग मुक्ति का हेतु अवश्य है, किन्तु वह पात्र भेद से फल में भी भेद कर देता है। अच्छी वस्तु भी यदि कुपात्र के संसर्ग में आ जाय, तो उसका फल विपरीत हो जाता है। जैसे घृत है, घृत को पृथ्वी का अमृत बताया है "आज्यं वे अमृतम्" किन्तु उसी घृत को ताँबे के पात्र में रख दो, तो विपरीत बन जायगा, अमृत भी पात्र के कारण विष बन जाता है। वस्तुएँ तो एक सी ही होती हैं। पात्र भेद से उनकी संज्ञा भिन्न हो जाती हैं। जैसे देवी भगवती तो एक ही है। यदि उनकी पूजा तामस प्रकृति के पुरुष तामसी विधि से भैंसा या नरबलि देकर सुरा मांसादि से पूजन करें, तो वह देवी भी तामसी देवी कहावेंगी। इसी प्रकार राजसी प्रकृति के पुरुष अजा, आशानादि वस्तुओं से पूजा अर्चा करें, तो देवी भी राजसी देवी कहलाने लगेंगी, उन्हीं भगवती देवी का पूजन सत्त्व प्रधान पुरुष सात्त्विकी विधि से करें तो देवी भी सात्त्विकी ही कहलावेंगी। सात्त्विक प्रकृति के लोग उनकी पूजा पुष्प फलों का बलि देकर सात्त्विक ढंग से करते हैं। यही बात त्याग के सम्बन्ध में है। त्याग तो एक ही है, किन्तु सात्त्विक

इस त्याग को करके भी त्याग का जो फल है उसको प्राप्त नहीं कर सकता ॥८॥

हे अर्जुन! करना ही चाहिये, ऐसा जान कर आसक्ति और फल को त्याग कर जो नियतकर्म किया जाता है उसको सात्त्विक त्याग माना गया है ॥९॥

प्रकृति का पुरुष त्याग करेगा, तो उसका त्याग सात्त्विक कहावेगा। राजसी प्रकृति वालों का राजस् त्याग और तामसी प्रकृति वालों का तामस त्याग कहलावेगा। उसी बात को बताते हुए भगवान् त्रिविध त्याग का वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने त्रिविध त्याग के सम्बन्ध में प्रश्न किया।" तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! प्रत्येक वर्ण के लिये प्रत्येक आश्रम के लिये कुछ कर्म नियत कर दिये गये हैं। जैसे द्विजों के लिये वेदाध्यन, अग्निहोत्र और दान देना ये नियत कर्म हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और सन्यासी के लिये यम नियमों का पालन करना नियत कर्म है। परिस्थिति वश इन नियमों में कुछ हेर फेर किया जाता है। जैसे ब्रह्मचर्य व्रत ही है। सब प्रकार के मैथुन के त्याग का ही नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी के लिये ऐसा ही ब्रह्मचर्य नियत है, किन्तु गृहस्थी के लिये कुछ छूट है। गृहस्थी यदि अपनी ही धर्म पत्नी में ऋतु काल में ही गमन करता है, तो उसके ब्रह्मचर्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। गृहस्थ के लिये ऐसा ही ब्रह्मचर्य नियत है। इसीलिये मैंने पहिले ही तुमको उपदेश दिया था कि तू क्षत्रिय है, अत अपने वर्ण के अनुसार जो तेरा नियत कर्म है, उसे तो करता ही रह। कारण यह है कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करते रहना कहीं अधिक श्रेष्ठ है। जसे वंश परम्परा से कोई शालग्राम की पूजा अथवा किसी अन्य अर्चा विग्रह की पूजा करता है। या बाल्य-काल से ही गुरु आज्ञा से कोई अर्चा विग्रह की पूजा कर रहा है। अत में उसे वैराग्य हो गया। वह कर्मों को बन्धन का कारण समझकर छोड़ना चाहता है, तो उसे शालग्राम पूजन, मंत्र जाप, धार्मिक ग्रन्थों का नियमित पाठ, इन कर्मों को न छोड़े। जो

सकाम कर्म हैं, उनको छोड दे। जैसे ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग मे सन्यास लेने पर नियत कर्मों का भी स्वरूपतः त्याग कर देते हैं। वैसे मेरे मत में अर्थात् निष्काम कर्म योग–भागवत धर्म–मे नियत कर्मों का त्याग अभीष्ट नहीं। भागवत धर्म मे तो आप जिस वर्ण में, जिस आश्रम मे जहाँ भी हो, जिस वेष-भूषा में हो, उसी मे रहकर केवल काम्य कर्मों का परित्याग करके फल की आशा न करके निष्काम भाव से नियत कर्मों को करते हुए भी आप सन्यास के फल को वहीं प्राप्त कर लोगे। आपको क्रम-क्रम से उच्च वर्णों में उच्च आश्रमों में जाने की आवश्यकता नहीं। यदि आप गृहस्थ धर्म में बिना विघ्न बाधा के निष्काम भाव से नियत कर्मों को करते हुए रह सकते हैं, तो वहाँ रहकर भी आप सिद्धि प्राप्त कर सकते हो। गृहस्थ में विघ्न बाधायें हो, तो पारिवारिक लोगों का सङ्ग छोडकर मत्पर होकर, मदीय भक्त बनकर मेरे पूजन अर्चन जप अनुष्ठानादि कर्मों को फल की आशा न रखते हुए कालयापन करो। नियत कर्मों को आलस्यवश त्यागो नहीं। उनके त्यागने से आलस्य प्रमाद बढ़ेगा। जो नियत कर्मों का मोह वश परित्याग करके अपने को त्यागी घोषित कर देते हैं। उनका वह त्याग तमोगुणी त्याग है। ऐसे मोह से त्याग करने वाले पुरुष तामस त्यागी कहलाते हैं।

अर्जुन ने कहा—"नियत कर्मों का मोह से त्याग करने वाले तो तामस त्यागी हुए अब राजस त्यागी कौन होते हैं, राजस त्याग का लक्षण बताइये।

भगवान् ने कहा—"घर में कोई अपना प्रिय स्वजन मर गया, व्यापार में घाटा पड़ गया, परिवार के लोगों से पटी नहीं, धन सम्पत्ति नष्ट हो गयी तब सोचा—अरे, जितने ये नित्य नैमित्तिक नियत कर्म हैं, सब दुःखदायक है। इनके करने के

निमित्त बहुत संभार एकत्रित करने पड़ते हैं, व्रत, उपवास, दान आदि करने पड़ते हैं। छोड़ो इन कर्मों के झंझटों को निष्कर्म होकर कर्मों का त्याग करके बाबाजी बन जाओ। वहाँ बनी बनायी भिक्षा की रोटियाँ मिल जायँगी। काया को क्लेश भी न होगा। खाया और पड़े रहे। इस प्रकार जो कर्मों को दुःख रूप समझ कर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों को छोड़ बैठता है। नियत कर्मों को नहीं करता। वह कर्ता राजसी त्यागी है। उसका वह त्याग राजस त्याग कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"कैसे भी सही, तामस हो या राजस त्याग तो त्याग ही है। त्याग की शास्त्रों में बड़ी महिमा गायी है, ऐसे लोगों को त्याग का कुछ भी फल तो प्राप्त होता होगा?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, ऐसे त्याग का न इस लोक में और न परलोक में ही कुछ भी फल नहीं। ये त्याग मोह तथा आलस्य के कारण किये गये हैं, अतः निष्फल है। फल की बात तो छोड़ दो, ऐसे त्यागों से और दोष लगता है।"

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, सात्त्विक त्याग का क्या लक्षण है?"

भगवान ने कहा—"जो सात्विक प्रकृति के पुरुष होते हैं, वे वेद शास्त्रों के वचनों पर, गुरुवाक्यों पर विश्वास करते हैं। वे नित्य नैमित्तिक कर्मों को शास्त्राज्ञा मानकर करते ही रहते हैं। वे सोचते हैं—"शास्त्रों ने जो कर्तव्य कर्म हमारे लिये नियत कर दिये हैं, उन्हें हमें करना ही चाहिये। यद्यपि समस्त कर्म बंधन के ही कारण हैं, किन्तु बंधन के कारण कब हैं? जब फल की आशा से आसक्ति पूर्वक किये जायँ तब। इस आशा से कर्म करे कि इस कर्म से हमें इस लोक में पुत्र पौत्र, धनादि की प्राप्ति हो, परलोक में स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति हो। अतः अत्यन्त

आसक्ति के सहित प्रबल कामना से किये जायँ तब तो ये बन्धन का कारण होते ही हैं। यदि ये ही कर्म अनासक्त भाव से फल तथा सङ्ग को त्याग कर किये जायँ तो वह करने वाला सात्त्विक त्यागी है और उसका यह त्याग भी सात्त्विक त्याग माना गया है।"

अर्जुन ने कहा -"आपने तामस, राजस और सात्त्विक तीनों ही प्रकार के त्याग के लक्षण बता दिये। अब कृपा करके यह बतावें कि यथार्थ में त्यागी का लक्षण क्या है। आपके मत से स्वरूपतः कर्मों का त्याग करना चाहिये या यज्ञ, दानादि नियत कर्मों के फल को ही त्याग कर निष्काम भाव से कर्मों को करते ही रहना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान उत्तर देंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

करम करत नित रहत दु ख तिनिमें अति पावैं।
फल अनुकूल न होहि विकलतातैं घबरावैं॥
साँचें सबई दुःख रूप हैं करम जगत के।
तजिकें इनिकूँ चलो बचिके काय क्लेश तें॥
ऐसो राजस त्याग है, पडित जन सब मिलि कहैं।
त्याग नहीं यह करम भय, नहीं त्याग को फल लहैं।
नियत करम नित करें समुझि अपनो नित करतब।
करनो ही है करम यही शास्त्रनि को मनतब॥
शास्त्र विहित ही करम करै फलकूँ नहिं चाहै।
उनमें तजि आसक्ति कृपनता मन नहिं लावै॥
ऐसो सात्त्विक त्याग है, फल आसक्ती तैं रहित।
करो करम करतव्य लखि मेरे सुमिरन के सहित॥

कर्मों के फल का त्यागी ही यथार्थ त्यागी है

[६]

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥*

(श्री भ० गी० १८ अ० १०, ११ श्लो०)

छप्पय

जाकी सम है बुद्धि कुशल अकुशलेतर नाहीं ।
सुख दुख जय अरु विजय हरप अरु शोकहु नाहीं ॥
अकुशल तैं नहिं द्वेप कुशल आसक्त नहीं है ।
है नहिं द्वैधी भाव विषमता नहीं कहीं है ॥
शुद्ध सत्त्वगुन युक्त नर, संशय रहित अमान है ।
बुद्धिमान त्यागी सरल, नहीं त्याग अभिमान है ॥

---

* अकुशल कर्म से जो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्मों में जो आसक्त नहीं होता, वही सत्त्वगुण से समाविष्ट पुरुष संशय रहित मेधावी है ॥१०॥

कोई भी देहधारी पुरुष सर्वथा कर्मों को त्यागने में शक्य नहीं है। वास्तविक में जो पुरुष कर्म-फल त्यागी है, वही वास्तविक त्यागी है। ऐसा कहते हैं ॥११॥

कर्म बन्धन के कारण हैं यह तो सर्वसमस्त सिद्धान्त है। क्योंकि कर्मों का फल तो भोगों द्वारा ही समाप्त होता है। कर्म करोगे, तो उनके फलों को भोगने के लिये जन्म लेना ही पड़ेगा। जन्म लोगे तो पुनः कर्म करने ही पड़ेंगे। पुन. कर्म करोगे, तो पुनः जन्म लेना पड़ेगा। अतः कर्म करने से जन्म और मृत्यु की शृखला कभी टूटने की नहीं। अतः समस्त कर्मों का परित्याग करके निष्कर्म होकर त्यागी सन्यासी विरागी बनकर प्रारब्ध कर्मों को भोगता हुआ ब्रह्मचितन म समय बिताने। जब भी विराग उत्पन्न हो जाय तभी सब कुछ त्याग कर सन्यासी बन जाय, यह सारयमत-अर्थात् ज्ञानमार्गीय पुरुषों का सिद्धान्त है।

किन्तु कर्ममार्गीय अर्थात् वर्णाश्रम धर्मावलम्बी पुरुषों का कहना है भाई, सन्यास की जो तुम प्रशसा कर रहे हो, वह हमे मान्य है। किन्तु सन्यास गुड का पूआ तो है नहीं, कि जो चाहे वही मूड मुडाकर कथरी चीवर ओढकर काषाय पीत वस्त्र पहिन कर, भिक्षापात्र हाथ मे लेकर त्यागी विरागी, भिक्षु अर्थात् सन्यासी बन जाय।

यह शरीर तो प्रारब्ध कर्मों के भोग के निमित्त बना है, प्रारब्ध कर्मों का भोग के बिना क्षय सम्भव नहा। अतः सन्यास की योग्यता प्राप्त करने के निमित्त वर्ण तथा आश्रम के अनुसार कर्म करने ही चाहिये। जिन्हे ब्रह्मचर्य व्रत का अधिकार है, वे ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए गुरुकुल मे वास करें, फिर दारग्रहण करके गृहस्थ धर्म का पालन करे। इस जन्म में विराग हो जाय और अपना अधिकार हो तो वानप्रस्थी होकर वानप्रस्थ-धर्म का पालन करे। वहाँ अपने मे योग्यता समझे, तो वानप्रस्थ से सन्यासी हो जाय, शास्त्रों मे जो सन्यासी के कर्म बताये हैं उन कर्मों को करता-करता अन्त मे कर्माकर्म से रहित

होकर समदर्शी परमहंस हो जाय। यह कर्ममार्ग वालों का कथन है।

ज्ञान मार्गी इतनी प्रतीक्षा के पक्ष में नहीं हैं। उनका कथन है, काल तो सिर पर मँडरा रहा है, तुम देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋणों के चुकाने के चक्कर में फँसे रहोगे, तो ये ऋण कभी चुकने के नहीं। अतः इसी क्षण सर्वत्यागी विरागी, वीतरागी बन जाओ।

महाभारत के शान्ति पर्व में इस विषय पर पिता और पुत्र का एक बहुत ही सुन्दर उपाख्यान है। कोई एक वेदों का ज्ञाता वेदाध्ययनशील ब्राह्मण था। उसका एक मोक्ष धर्मपरायण स्वाध्यायरत पुत्र था। पुत्र का नाम था मेधावी। वह मेधावी यथा नाम तथा गुण वाला था। एक दिन मेधावी ने अपने पिता के समीप जाकर पूछा—"पिताजी! मनुष्यों की आयु अत्यल्प है, उसमें बड़े-बड़े विघ्न हैं। आयु शीघ्र ही बीत जाती है, मनुष्य ऐसी दशा में क्या करे ?"

पिता ने कहा—"देवऋण, पितृऋण तथा ऋषि ऋणों के उद्धार के लिये वेदाध्यन, पुत्रोत्पत्ति तथा अग्निहोत्रादि कर्मों को करके वानप्रस्थी बने, पुनः संन्यास धारण करके ईश्वराराधन करे।"

मेधावी ने कहा—"पिताजी! आप तो बड़े धैर्यशाली पुरुषों की-सी बातें कह रहे हैं। चारों ओर से काल तो सिर पर मँडरा रहा है, वह प्राणियों की आयु को हरता जा रहा है। इतना सब करने का अवसर कहाँ है ?"

पिता ने पूछा—"काल ने किसे घेर रखा है, किसका कौन संहार कर रहा है ? कौन आगे बढ़ा चला आ रहा है ?"

पुत्र ने कहा—"यह सर्वभक्षी काल ही सबको घेरे हुए है यही

प्राणियों का संहार करता है, जो क्षण बीत गया वह चला गया, जो रात्रि व्यतीत हो गयी वह लौटकर नहीं आती। काल बड़ा बली है। जैसे मेढ़ा ऋतुमती भेड़ की खोज में जाता है, भेड़िया आकर उसे खा जाता है, इसी प्रकार यह जीव विषयों की खोज में इधर से उधर भटकता रहता है, उसी समय काल आकर उसे चट कर जाता है। इसलिये 'काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब। छिन मे परलै होइगी, फेरि करैगो कब्ब ?' इन पुत्र, पशु, परिवार, परिजनादि में अनुराग न करना चाहिये। गृहस्थ धर्म में सुख मानना काल के मुख मे रहते हुए अपने को सुखी समझने के समान है।

पिता ने कहा—"तो क्या वन मे जाकर वास करे ?"

पुत्र ने कहा—"वन मे भी वे ही बन्धन हैं। वन में रहना भी उसी प्रकार है जैसे बहुत सी गौओं को बाँधकर बाड़े मे रखना।"

पिता ने कहा—"तब रहे कहाँ क्या करे ?"

पुत्र ने कहा—"जहाँ भी रहे इन्द्रियों का दमन करता रहे, सत्य का आचरण करे। सत्य के द्वारा ही काल को जीता जा सकता है। अमृत, मोक्ष और मृत्यु ये तीनों इस शरीर मे ही हैं। मोह करना मानो मृत्यु का आलिंगन करना है। ब्रह्मज्ञान में मन लगाना मानो अमृतत्व को प्राप्त करना, मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ना। अतः हिंसा का परित्याग करके काम-क्रोध को जीते, सुख-दुख मे सम रहे। ऐसे कार्यों को करे जिससे दूसरों को सुख हो। प्रणव का जप, स्नान, शौच, गुरु सेवा आदि कर्म यज्ञों को करता रहे। हिंसा प्रधान यज्ञों का परित्याग कर दे। वाणी, मन, तप, दान और सत्य को ब्रह्मस्वरूप बना ले। अर्थात् समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करे। ज्ञान के समान नेत्र

नहीं, सत्य के सदृश तप नहीं, अनुराग के समान दुःख नहीं और त्याग के समान सुख नहीं। किसी की सन्तान किसी का उद्धार नहीं कर सकती। अपना आप ही अपना शत्रु मित्र है। अपनी आत्मा से ही अपना उद्धार करे। एकान्तवास, सब में सम बुद्धि रखना, सत्य भाषण, सदाचरण, चित्त की स्थिरता, मनसा, वाचा कर्मणा अहिंसक बने रहना, सरलता, समस्त कर्मों से उपरति ये ब्राह्मण के धन है। जब एक दिन मर ही जाना हे, तो ससारी बन्धनों मे क्यो बँधे, सब का परित्याग कर दे।"

वेदज्ञ ब्राह्मण के पुत्र मेधावी ने जो बातें कहीं हैं, वे सब सत्य हें, समबुद्धि रखना। कुशल अकुशल मे समभाव बनाये रखना सर्वमान्य सिद्धान्त ह। कर्म मार्गी उसे क्रमशः करने के पक्षपाती हैं, ज्ञान मार्गी तुरन्त सर्व कर्मों को स्वरूपतः त्यागने के पक्षपाती हैं, किन्तु निष्काम कर्म मार्गी भागवत धर्म के उपासक कर्मों के त्याग का आग्रह नहीं करते। उनका कथन हे कि बधन के कारण कर्म नहीं हैं, कर्मों में जो आसक्ति हे, कर्मों के फल की जो कामना हे, ये ही बधन का कारण हे। अतः सच्चा त्यागी वही हे जो अनासक्त होकर सर्व कर्मों के फल का त्याग करता हुआ निष्काम भाव से कर्मों को करता रहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से वास्तविक त्यागी का लक्षण पूछा, तो भगवान् इसका उत्तर देते हुए अर्जुन से कहने लगे—"देखो, भया! जो शुद्ध सत्त्वगुण युक्त पुरुष हे, वास्तव में वही त्यागी ह।"

अर्जुन ने पूछा—"शुद्ध सत्त्वगुण युक्त पुरुष के लक्षण क्या हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो शुद्ध सत्त्वगुण युक्त पुरुष हैं, वह

अकुशल कर्मों से तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्मों मे आसक्त नहीं होता।"

अर्जुन ने पूछा—"अकुशल कर्मों से द्वेष नहीं करता। इसका क्या तात्पर्य है ?"

भगवान् ने कहा—"कोई हिंसादि बुरा कार्य कर रहा है। मना करने पर भी मानता नहीं, तो हृदय से उससे द्वेष न करे। यही चाहे भगवान् इसकी बुद्धि को शुद्ध कर दें।" एक महात्मा थे उन्होंने एक मल्लाह को मछली मारते देखा, उन्होंने कहा—"अरे, भैया! तुम जीव हिंसा क्यों कर रहे हो ?"

उसने महात्मा की बात सुनी ही नहीं। महात्मा ने फिर पूछा। उसने कहा—"जा, जा बडा उपदेश देने वाला बना है। अच्छा मार रहे हैं तुझे क्या प्रयोजन ?"

यह सुनकर महात्मा ने सोचा—"अधम संस्कार का जीव है। वे बिना क्रोध किये चुपचाप चले गये। ऐसे भाव को ही अकुशल कर्मों में द्वेष न करना कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कुशल कर्मों मे आसक्ति करना किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे दया है, परोपकार है यज्ञादि शुभ कर्म हैं, इन्हे कर्तव्य बुद्धि से करे उनमें अत्यन्त आसक्त न हो जाय। जैसे जड भरत जी ने दया करके पानी में बहते हुए मृग बालक को निकाल लिया, यह तो उन्होंने उचित किया, कुशल कर्म किया। उन्हें उसे साथ नहीं लाना चाहिये था, वहीं छोड आना चाहिये। वहाँ रहता तो भेडिया खा जाते। उसे बडा किया तो, बड़ा करके तुरत उसे छोड देना था। उसमें अत्यन्त आसक्ति करने से वह कुशल कर्म भी दोष युक्त बन गया। उन्हें उसके परिणाम स्वरूप स्वय मृग की योनि में जाना पड़ा। यह कुशल

कर्म में सज्जित होने का—अत्यन्त आसक्ति करने का—दुष्परिणाम है।"

दूसरे शुद्ध सत्त्व युक्त पुरुप को संशय रहित होना चाहिये। अर्थात् कर्म करते समय ऐसा संशय न करे कि मैं यह उचित कर रहा हूँ या अनुचित। उसे मेधावी होना चाहिये। मेधावी कहते हैं बुद्धिमान को। और उसे त्यागी भी होना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"त्यागी किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"जो कर्म करते हुए भी उन सभी कर्मों के फलों की आकांक्षा न करे। कर्मों के फल को त्यागने वाले को ही त्यागी कहा गया है।"

अर्जुन ने पूछा—"जो सभी कर्मों को स्वरूपतः त्याग देते हैं, क्या वे त्यागी नहीं हैं ?"

भगवान् कहा—"त्यागी क्यों नहीं हैं, वे भी त्यागी ही हैं, किन्तु अर्जुन ! सोचो तो सही। जिसने शरीर धारण किया है, क्या ऐसा देहधारी पुरुप सर्वथा कर्मों का त्याग कर सकता है ? बिना कर्म किये कोई भी प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा सभी प्राणी अवश होकर कर्मों को करते ही रहते हैं। यह शरीर ही प्रारब्ध कर्मों के अनुसार बना है। मनुष्य करना भी न चाहे तो प्रारब्ध कर्म उससे हठात् कर्म कराते ही हैं। कर्म न करे तो शरीर यात्रा ही नहीं चल सकती। शरीर यात्रा चलाने के लिये कर्म करने ही पड़ते हैं। अतः सर्वथा कर्मों के त्याग के हठ को तो दे छोड़, हाँ उनके फलों में आसक्ति न रखे। जो कर्मों के फलों का त्यागी है वास्तव में वही सच्चा त्यागी है। और जो भिक्षा लाने के कर्म को करता है, और भी शरीर सम्बन्धी अनेकों कर्मों को करता है। और अपने को त्यागी कहता है, तो वह तो फिर

गोविन्दाय नमोनमः ही है। ठीक है, उससे भी द्वेष न करे। वह जो कर रहा है अपनी बुद्धि से ठीक ही कर रहा है। किन्तु हमारे मत से तो कर्मों के फलों का त्यागने वाला ही त्यागी है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! कर्मों के फलों को जो त्याग कर कर्म करता है, वह तो श्रेष्ठ त्यागी है ही, किन्तु एक मेरी इस विषय मे शंका है।"

भगवान् ने कहा—"क्या शंका है, उसे भी बता दो।"

अर्जुन ने कहा—"शंका मेरी यह है। कि कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसका कुछ न कुछ फल न होता हो। चाहे फल की इच्छा न भी हो, फिर भी कर्म तो उसके द्वारा होता ही है। जैसे अनिच्छा पूर्वक ही भूल से ही खेत मे बीज पड गया, तो चाहे हमारी इच्छा उसे उपजाने की नहीं थी, फिर भी खेत में पड़ने से वह उपज ही आवेगा। इसी प्रकार फलाशा के बिना भी किये हुए कर्म का फल तो कुछ न कुछ होगा ही। जब कर्मों का फल मिलेगा ही तो संसार बंधन होगा ही। फिर निष्काम कर्म से संसार बंधन छूटेगा कैसे? परम पद को प्राप्ति उन निष्काम कर्मों से कैसे हो सकेगी?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अरजुन! सोचो नेंक करम त्यागी कस प्रानी।
श्वास प्रश्वासहु करम तजि सकैहू नहिँ ज्ञानी॥
देहवान जो पुरुष सबहि करमनि त्यागे कम।
शक्य नहीं है त्याग पूर्णता तें होवे भ्रम॥
है यथार्थ त्यागी वही, करै करम फल त्याग जो।
हठ तें नहिँ त्यागे कबहुँ, शुभ जप तप अरु याग जो॥

कर्मों का त्रिविध फल

[७]

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥*

(श्री भ० गी० १८ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

जो न करमफल त्याग करें तिनि मिलहि करम फल ।
फलके तीनि प्रकार प्रथम तो इष्ट विमल फल ॥
दूसर कह्यो अनिष्ट समल जाकूँ बतलावैं ।
तीसर फल हैं मिले जुले जो मिश्र कहावैं ॥
मरिकें ये ध्रुव फल मिलहिँ, जो न करम फल तजत हैं ।
सन्यासी तजि फल करम, फल तिनिकूँ नहिँ लगत हैं ॥

कर्मों की गति बड़ी गहन है । क्या कर्म है क्या अकर्म है, इस विषय में बड़े बड़े विद्वान् चक्कर खा जाते हैं, अतः कर्मों की गति को पहले समझ लेना चाहिये ।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण । संचित तो वे कर्म कहलाते हैं, जो हमने अपने पिछले अनेकों जन्मों

---

* अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित तीन प्रकार कर्मों का फल मरने के पश्चात् होता है, किन्तु यह अत्यागी पुरुषों का ही होता है, सन्यासियों का कभी नहीं होता ॥१२॥

मे किये हैं। एक जन्म मे मनुष्य अपने समस्त कर्मों का फल नहीं भोग सकता। कर्म बिना फल भोगे नष्ट नहीं होते, वे संचित—एकत्रित—होते रहते हैं। कर्मों का एक बृहद् कोष इकट्ठा होता रहता है वही जन्मान्तरों में किये हुए कर्मों का कोष संचित कर्म कहलाते हैं। उस संचित कोष मे से एक जन्म के भोग के लिये जो कर्म निश्चित कर दिये जाते हैं, वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। मनुष्य उन प्रारब्ध कर्मो के अनुसार ही समस्त व्यापारों को करता है। प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग के क्षय होता नहीं। अतः चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, मुक्त हो अथवा बद्ध, नित्य हो अथवा मुमुक्षु प्रारब्ध कर्मो का भोग तो सभी को भोगना पड़ेगा। सब प्राणी प्रारब्ध कर्मो के ही अनुसार वर्ताव करते हैं।

अब तीसरा कर्म है क्रियमाण, इस जन्म मे जो करोगे, उसका फल संचित मे जुड़ता जायगा। सचित कोष को बढ़ाने वाले कर्मो को क्रियमाण कहते हैं।

अब शंका यह होती है, कि जब हम इस जन्म में जो कर्म करते हैं, प्रारब्ध की प्रेरणा से ही करते हैं। आयु, करने वाले कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पॉच बातें पैदा होने से पूर्व ही निश्चित हो जाती है। जब हम सब कर्म प्रारब्धानुसार ही कर रहे हैं, उनके करने के लिये हम अवश हैं, तो फिर क्रियमाण कर्म कैसे होंगे। क्रियमाण तो तब होंगे जब हम कर्म करने में स्वतत्र हो, जो हमारे मन में आवे सो करें। तब तो हम दोषी हो सकते हैं। स्वेच्छा से किये हुए हमारे कर्म भले या बुरे अथवा मिले-जुले मिश्रित कहलाये जा सकते हैं। जब हम सब तो प्रारब्ध की प्रेरणा से करते हैं—"फिर क्रियमाण कर्मों की उत्पत्ति कैसे होती है। उनका निर्माण किस प्रकार होता है ?"।

शंका बड़ी सुन्दर है, इसका रहस्य खुल जाने पर ही कर्मों की गति समझी जा सकती है। यह मानव प्राणी सर्वथा परतंत्र भी नहीं और सर्वथा स्वतंत्र भी नहीं। स्वतंत्र तो इसलिये नहीं कि यह प्रारब्ध के भोगों से बँधा है। न जाने इसने कितनी योनियों में कितने अच्छे, बुरे, मिश्रित कर्म किये हैं। उन सब कर्मों के फलों की एक पोटरी इसके साथ बँधी हुई है। उस पोटरी में बँधे हुए असंख्य कर्मों का ही नाम संचित कर्म है। उन कर्मों का हिसाब एक दैव नाम का सर्वज्ञ व्यक्ति बड़ी सावधानी से रखता है, उसके गणित में कभी भूल चूक होती ही नहीं। उस गठरी में से एक जन्म के भोगों को निकालकर देव पैदा होने के पूर्व ही माता के पेट में ही दे आता है। जैसे कोई दूर की यात्रा को जाता हो, तो उसे हुण्डी दे दी जाती हैं। मार्ग में वह भुनाता न करता जाय, अपना काम चलाता जाय। इसी इप्रकार बालक जब पेट में रहता है तभी दैव जन्म के पूर्व आने वाले पूरे जन्म की पाँच हुण्डिया उसे सौंप देता है।

पहिली हुंडी में तो यह लिखा रहता है, कि यह आनेवाला जन्म कितने समय का है। अर्थात् इसकी आयु ८० वर्ष ५ महीने २५ दिन ७ घड़ी, ६ पल की है। तो इससे न पल भर आयु घट सकती है न आधा पल बढ़ हो सकती है। उतना समय समाप्त होते ही उसकी जीवन लीला समाप्त हो जायगी।

दूसरी हुण्डी में कर्मों की तालिका रहती है। यह अपनी सम्पूर्ण आयु में ये-ये कर्म करेगा। उन नियत कर्मों को छोड़कर इच्छा रहने पर भी दूसरे कर्मों को नहीं कर सकता।

तीसरी हुण्डी में धनों की तालिका लिखी रहती है। जीवन भर में इसे इतने भवन, इतनी गौएँ, घोड़े हाथी आदि पशु, इतना अन्न, इतनी पत्नियाँ, इतने दास दासी, सेवक, इतना द्रव्य

मिलेगा। उसके अतिरिक्त कितना भी प्रयत्न करो एक कौड़ी अधिक न मिलेगी।

चौथी हुण्डी में विद्याओं की तालिका रहती है। शिल्प विद्या इतनी आवेंगी, ठग विद्या इतनी करेगा। इतनी श्रेणी तक शिक्षा ग्रहण करेगा। उससे अधिक एक अक्षर नहीं पढ़ सकता।

पाँचवी हुण्डी में इस बात का निर्णय लिखा रहेगा, कि जब इसकी आयु समाप्त हो जायगी, तब अमुक स्थान पर, अमुक के सम्मुख, अमुक रोग से, अथवा अग्नि द्वारा, जल द्वारा, सर्पादि विषधरों द्वारा, शस्त्र से, वृक्ष से गिर कर, विष खाकर भूत प्रेतादि द्वारा अथवा सिंह व्याघ्रदि द्वारा इसकी मृत्यु होगी। उसमे भी किसी प्रकार का हेर फेर नहीं हो सकता। यही प्रारब्ध कर्मों की परिभाषा है। प्रारब्ध कर्मों का भोगों द्वारा ही क्षय होता है। दूसरा कोई विकल्प ही नहीं।

अब क्रियमाण कर्मों को समझो। हम बता चुके हैं पुरुष कर्म करने मे भोग भोगने मे तो प्रारब्ध के अधीन है, किन्तु आसक्ति करने न करने में मनुष्य स्वतंत्र है, इतनी भी स्वतंत्रता न हो, तो वैयाकरणों ने जो कर्ता को स्वतंत्र माना है, यह व्यर्थ हो जायगा। अतः प्रारब्ध कर्मों को वह आसक्ति सहित भी भोग सकता है, अनासक्त भाव से प्रारब्ध कर्मों का भोग समझकर भी भोग सकता है। जैसे हमें प्रारब्धानुसार पाँच फल खाने को प्राप्त हो गये। उन फलों का उपभोग तो हमें प्रारब्धानुसार करना ही पड़ेगा। उन्हे खाते समय हम सोच लें ये फल तो हमें प्रारब्धानुसार मिले हैं, अतः अनासक्त भाव से प्रारब्ध भोग समझ कर खा जायँ, उनके स्वाद में आसक्त न हों, फिर ये ही मिल जायँ, ऐसी इच्छा न करे, पुनः पाने का प्रयत्न न करें तो उनके भोग से क्रियमाण कर्म न बनेंगे। केवल प्रारब्ध समाप्त

हो जायगा। आगे कर्म न बनकर सचय कर्मों का कोप न बढेगा। यदि हम उन्हें खाते समय उनके स्वाद मे, उनके रग रूप में आसक्त हो जायँ, पुनः पाने की इच्छा करें तो वह आसक्ति ही क्रियमाण कर्मों को उत्पन्न करेगी। वे ही कर्म सचय कर्मों की पुटली में सम्मिलित कर लिये जायँगे। इस बात को इस दृष्टान्त से समझिये।

जेसे एक राजपुत्र हे, उसके पिता ने बहुत सी पैतृक सम्पत्ति जो परम्परा से उसके कोप में बढती चली आई हे। किसी स्थान मे अपने पुत्र के नाम सचित कर दी। और यह नियमकर दिया कि प्रतिमास निर्वाह के लिये राजकुमार को एक सहस्र मुद्रायें मिला करेंगी। ता मास की प्रथम तिथि को उसे एक सहस्र मुद्रा मिल जाती हैं। उससे न एक पैसा अधिक मिलता हे, न एक छदाम कम। एक महीने भर उसे उसी द्रव्य से निर्वाह करना पडेगा। यदि वह उसे मासिक व्यय समझ कर महीने के तीस दिनों मे पूर्ण व्यय कर देता है, तो दूसरे महीने पुनः उतने ही मिल जायँगे, उसके सचित कोप मे कोई वृद्धि न होगी। यदि उसने पूरे एक सहस्र को व्यय नहीं किया दो सौ रुपये बचाकर सचित कोप मे पुन जमा कर दिये, तो मिलेगा तो उसे नियत द्रव्य ही किन्तु उसके सचित कोप में उतनी वृद्धि और हो जायगी।

कभी ऐसा हुआ कि जिसके पास सचित कोप रखा हे, उसने एक महीने के लिये तो द्रव्य दे दिया, फिर उसका दिवाला निकल गया, तो आपका सचित समस्त धन नष्ट हो जायगा, आप उसके यहाँ बचा कर जमा भी नहीं कर सकते। महीने भर को जो तुम्हें मिल गया हे, उसे तो तुम्हें किसी प्रकार व्यय करना ही पड़ेगा।

इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर संचित और क्रियमाण कर्म तो नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्मों का भोग तो शरीर रहते-रहते मृत्यु पर्यन्त ज्ञानी पुरुष को भी करना ही पड़ता है, किन्तु वह उन कर्मों मे आसक्त नहीं होता। अनासक्त भाव से भोगता है। (मुक्तोऽपितावत् विभ्रियात् स्वदेह मारब्धमश्नन् अभिमान शून्यः) जब तक आसक्ति है तब तक अच्छे कर्मों का अच्छा, बुरे कर्मों का बुरा, मिले-जुले मिश्रित कर्मो का मिला-जुला फल मरकर दूसरे जन्मों मे भोगना ही पड़ेगा।

अब शंका यह होती है, कि मरकर ही शुभाशुभ मिश्रित कर्मों का फल क्यों भोगना पड़ेगा। इसी जन्म मे क्यों नही भोगना पड़ता?

बात यह है, इस जन्म मे भोगने को तो आपको संचित कर्मों मे से निकालकर प्रारब्ध कर्म दे ही दिये गये। भोग के फल सदा संचित कोष से ही निकालकर दिये जाते है, अतः इस जन्म में किये हुए कर्म संचित कर्मों में जाकर सम्मिलित होंगे, और उनका फल मरने के पश्चात् दूसरे जन्मों में ही भोगना पड़ेगा, किन्तु इस नियम मे भी कुछ अपवाद हैं। अति उत्कट कोई पुण्य पाप हो, तो इसी जन्म मे संचित में मिलकर तुरंत नये प्रारब्ध को बनाकर इसी जन्म में उसका फल मिल जाता है। जेसे इस जन्म मे पुत्रेष्टि यज्ञ किया, तो कर्म का फल तुरंत संचित मे मिल गया। और उस नवीन कर्म को नवीन प्रारब्ध बनाकर इसी जन्म के प्रारब्ध कर्मों मे जोड़ दिया तो इस जन्म के किये हुए कर्म का इसी जन्म मे फल मिल गया। यह नियम नहीं अपवाद है। साधारण नियम तो यही है, कि अच्छे बुरे तथा मिश्रित कर्मों का फल मरने के पश्चात् दूसरे जन्मों में ही मिलता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। जब अर्जुन ने यह शंका की कि केवल कर्मों के फलों का त्याग करने से ही मनुष्य त्यागी कैसे हो सकता है, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं— "अर्जुन! पहिले तो तुम इस बात को जान लो कि बन्धन का कारण कर्म हैं, या कर्मों के फलों में आसक्ति है। इसलिये पहिले कर्म के प्रकार के होते हैं, इस बात को जान लेना चाहिये।

अर्जुन ने कहा—"पहिले यही बतावें कि कर्म के प्रकार के होते हैं?"

भगवान् ने कहा—"कर्म तीन प्रकार के होते हैं। एक अनिष्ट कर्म अर्थात् बुरे कर्म, निकृष्ट कर्म, दूसरे इष्ट कर्म अर्थात् अच्छे कर्म, उत्तम कर्म, तीसरे मिश्रित कर्म अर्थात् कुछ अच्छे कुछ बुरे दोनों मिले जुले।"

अर्जुन ने पूछा—"इन तीनों प्रकार के कर्मों के फल कै प्रकार के होते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जैसे कर्म होते हैं, उनके अनुरूप ही उनके फल भी होते हैं। जैसे अनिष्ट कर्मों का अनिष्ट फल, इष्ट कर्मों का इष्ट फल और मिश्रित कर्मों का मिश्रित फल। इस प्रकार के कर्मों का फल भी तीन ही प्रकार का होता है। जैसे किसी ने चोरी, व्यभिचार तथा अन्यान्य अधर्म निकृष्ट कार्य किये, तो मरने पर इन बुरे अनिष्ट कर्मों के फल स्वरूप उसे नरकों का दुःख भोगना पड़ेगा और फिर इस पृथ्वी पर शूकर कूकरादि अधम योनियों में आकर नाना प्रकार की यातनायें सहनी पड़ेगी यह तो अनिष्ट कर्मों का अनिष्ट कर्म फल हुआ।"

अब जिन्होंने जप, तप, तीर्थ, यज्ञादि इष्ट कर्म किये हैं, उन कर्मों के फल स्वरूप उन्हें स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी, वहाँ चिरकाल तक स्वर्गीय सुखों का उपभोग करके अंत में वे

यहाँ पृथ्वी पर आकर सत् कुल में उत्पन्न होंगे। यही इष्ट कर्मों का इष्ट फल हुआ।

जिनका कुछ पुण्य भी है, कुछ पाप भी है, उनसे बुरे कर्म भी बन गये हैं और तीर्थ, व्रत, जप तपादि कुछ अच्छे कर्म भी हुए हैं, वे स्वर्ग नरक कहीं न जाकर पुनः पुनः पृथ्वी पर जन्म लेते रहते हैं, पुनः पुनः मरते रहते हैं। यहाँ पर कभी सुख भोगते हैं, कभी रोग, शोकादि के कारण क्लेश भी उठाते हैं। यही मिश्रित कर्मों का मिश्रित फल है।

अर्जुन ने पूछा—"क्या सभी पुरुषों को इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित कर्म करने वालों को उनके इष्ट अनिष्ट और मिश्रित फल भोगने ही पड़ेंगे?"

भगवान ने कहा—"यह तो सिद्धान्त की ही बात है। जो कर्तृत्व अभिमान पूर्वक कैसे भी कर्म क्यों न करे शुभ कर्मों का शुभ फल तथा अशुभ कर्मों का अशुभ फल और शुभाशुभ कर्मों का मिश्रित फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। हाँ जो सन्यासी है, त्यागी है उसे किसी भी प्रकार के कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता। यह तो अत्यागियों को–राग से कर्म करने वालों को–कर्मासक्त पुरुषों को ही फल भोगना पड़ता है।"

अर्जुन ने पूछा—"सन्यासी किसे कहते हैं?"

भगवान ने कहा—"अनेकों बार तो मैं बता चुका हूँ, ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग में सन्यासी का अर्थ है, जिसने स्वरूपतः सभी कर्मों का परित्याग कर दिया हो, किन्तु भागवत धर्म में निष्काम कर्म योग मार्ग में तो सन्यासी का अर्थ यह है कि जो कर्मों के फलों को न चाहता हुआ अनाश्रित होकर कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही त्यागी है, वही सन्यासी है। इस भाव को मैंने बार-बार व्यक्त किया है। क्योंकि कर्मों के न करने मात्र

से ही कोई मनुष्य निष्कर्मता को प्राप्त नहीं हो सकता है। और यह भी बात नहीं है, कि सर्व कर्मों को छोड़ देने मात्र से ही कोई त्यागी विरागी सिद्ध हो जाता हो। वास्तव में जो पुरुष मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से कर्मों को करता रहता है, वास्तव में वही श्रेष्ठ है, वही वास्तविक सन्यासी है।

अर्जुन! तुम इस बात को स्वयं विचार कर लो। कर्म विचारे क्या अनिष्ट कर सकते हैं। अनिष्ट का कारण तो अहंता और ममता ही है। जो योगयुक्त हो गया है, जिसका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, जिसकी आत्मा सर्व भूतों मे आत्मभूत हो चुकी है, वह कर्मों को करता हुआ भी उनमे लिप्त नहीं होता। अतः मेरे मत मे तो जो कर्म करते हुए भी उनका फल नहीं चाहता जो कर्तव्य कर्मों को स्वरूपतः त्यागने का आग्रह नहीं करता उन्हे कर्तव्य बुद्धि से अनासक्त होकर करता ही रहता है वही सन्यासी है।

अर्जुन ने पूछा—"जो लोग अग्नि को नहीं छूते और स्वरूपतः सभी कर्मों को त्याग कर अक्रिय बन जाते हैं, वे संन्यासी नहीं हैं क्या ?"

भगवान् ने कहा—"पूर्णज्ञान होने पर ऋषभदेवजी की भाँति जो हो जायँ, उनकी बात तो छोड़ दो। जो केवल अग्नि को न छूने का बहाना करके अक्रिय बन जाते हैं, वे तो फिर गोविन्दाय नमो नमः ही हैं।"

मैंने जिन अनासक्त भाव से कर्म न करने वाले संन्यासियों के सम्बन्ध में बताया, उनको इष्ट, अनिष्ट तथा मिश्रित किसी भी कर्म का फल नहीं मिलता। क्योंकि वे तो पहिले से ही कर्मों के फलों से पराङ्मुख बन चुके हैं।

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, यह तो मैं समझ गया, कर्मों का फल उन्हीं लोगों को मिलता है जो फल चाहते है। जो फल की आकांक्षा ही नहीं रखते वे कर्म करते हुए भी किसी प्रकार के बंधन मे नहीं बंधते। अब सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि किन-किन कारणों से होती है। कर्मों के जो हेतु हों, उनको पहिले मुझे बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर जैसे भगवान् सांख्य सिद्धान्त के अनुसार कर्मों के पाँच हेतुओं का वर्णन करेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

सन्यासी है वहा करम फल आश्रित नाहीं।
फल में होहि न लिप्त रहै करमनि के माहीं॥
करै करम करतव्य न आग्रह करम तजन को।
एकहि आग्रह रखे भक्ति भगवान् भजन को॥
ऐसे संन्यासी करम–बन्धन में नहिँ परत हैं।
नहिँ जनमें वे करमवश, नहिँ कबहूँ वे मरत हैं॥

सांख्य मतानुसार कर्मों की सिद्धि के पाँच हेतु

[८]

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ॐ
(श्री भग० गी० १८ अ० १३ १४ श्लो०)

छप्पय

कैसे होवें करम सिद्धि तिनि हेतु बतावें।
करमनि को हो अन्त सबनिके नाम गिनावें॥
महाबाहु ! हैं हेतु पाँच जिनि सिद्धि मिलत हैं।
करमनि को करि अन्त सुसाधक सिद्ध बनत हे॥
साख्यशास्त्र महँ जो कहे, तिनिकूँ सुनि अरजुन ! अबहिँ।
जिनि पाँचनि सम्बन्ध तैं, बनहिँ करम कारन सबहिँ॥

ॐ हे महाबाहो ! सांख्य सिद्धान्त मे सब कर्मों की सिद्धि के लिये पाँच कारण बताये गये हैं, उन्हें तुम मेरे से सुनो ॥१३॥

अधिष्ठान, कर्ता, पृथक् पृथक् करण, विविध भाँति की पृथक्-पृथक् चेष्टायें और पाँचवाँ हेतु दैव है ॥१४॥

मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं। (१) ज्ञान मार्ग अथवा सांख्य मार्ग जिसे निवृत्ति धर्म भी कहते हैं। (२) दूसरा कर्म मार्ग या वर्णाश्रम धर्म मार्ग है जो प्रवृत्ति द्वारा निवृत्ति तक पहुँचाने वाला है। (३) भक्ति मार्ग जो प्रवृत्ति परक निवृत्ति मार्ग है जिसे निष्काम कर्म मार्ग भी कहते हैं। सांख्य मार्ग मे और कर्म मार्ग के उद्देश्यों मे कोई अन्तर नहीं। जो स्थान साख्य वालो को प्राप्त होता है, वही योग मार्ग अर्थात् कर्म मार्ग वालों को प्राप्त होता है। तीसरा जो मध्य मार्ग है। सांख्य या ज्ञान मार्ग मे विचार वैराग्य करते हुए कर्मों को त्याग करके अंतिम लक्ष्य तक पहुँचना है। कर्म मार्ग में शास्त्रीय कर्मों को करते-करते क्रमशः कर्मों द्वारा ही निष्कर्म होकर अंतिम लक्ष्य तक पहुँचना है, किन्तु निष्काम कर्म योग या भक्ति मार्ग में कर्मों के त्याग का आग्रह कभी भी नहीं करना है। वेद विहित समस्त कर्मो को अत तक करते रहने पर भी कभी उन कर्मों के लौकिक फल की इच्छा न करना। वहाँ कर्मों के त्याग का आग्रह नहीं। कामना या फल के त्याग पर ही बल दिया गया है।

सभी मार्गों मे भीतर बाहर की शुद्धि, तपस्या, प्राणियों के प्रति दया तथा यम नियमादि व्रतों का पालन समान रूप से स्वीकार किये गये हैं। केवल उनकी पद्धतियों में ही मतभेद है। ज्ञानियों का विशेष बल आरम्भ से ही त्याग पर रहता है, वे कर्मों का आदर नहीं करते। कर्म वे केवल अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त स्वीकार करते हैं। जहाँ वैराग्य हुआ कि फिर जहाँ बैठे हैं वहीं से कर्मों का त्याग करके त्यागी संन्यासी बन जाते हैं।

कर्म मार्गीय कर्मों का आग्रह करते हैं, कर्मों के करने से ही सिद्धि प्राप्त मानते हैं, किन्तु वे भी अन्त मे सर्व कर्म त्याग को योग्यता प्राप्त होने पर स्वीकार करते हैं भक्ति मार्ग वाले या

निष्काम कर्मयोगी कर्म त्याग का आग्रह नहीं करते। वे तो अपना सम्पूर्ण बल कामना स्पृहा–आसक्ति–और फलेच्छा के त्याग पर ही देते हैं। सांख्य मार्ग या ज्ञान मार्ग की पद्धतियाँ भी भिन्न भिन्न हैं, उनके भी कई भेद हैं। इसी प्रकार कर्म मार्गियों में भी कई भेद है। कुछ लोग तो मीमांसा वाले स्वर्ग से ऊपर बढ़ते ही नहीं वे कर्मों का अर्थ सकाम कर्म ही मानते हैं। स्वर्ग में जाओ वहाँ के भोगों को भोगो, पुनः पृथ्वी पर शुभ कर्म करके स्वर्ग जाओ। भगवान् ने ऐसे लोगों की निंदा की है। इसी प्रकार भक्ति मार्ग के भी अनेकों भेद हैं, किन्तु सब का तात्पर्य एक ही है, कि जो भी कर्म करो प्रभु की प्रीति के ही निमित्त करो।

अब जब अर्जुन ने कर्मों के हेतु के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो पहिले भगवान् सांख्य मार्ग अर्थात् ज्ञान मार्ग के अनुसार इसका वर्णन करेंगे, फिर वर्णाश्रम धर्म का निरूपण करेंगे, तब अन्त में निष्काम कर्मयोग का रहस्य समझावेंगे। और ग्रन्थ की परिसमाप्ति निष्काम कर्मयोग, भक्ति योग अथवा शरणागत योग में करेंगे।

भगवान् ज्ञान योग, कर्म योग और भक्ति योग तीनों को ही पात्र भेद से उचित मानते हैं। मीमांसकों के सकाम कर्म मार्ग को छोडकर उन्होंने किसी भी मार्ग को हेय या निंदनीय नहीं बताया। ज्ञान मार्ग की प्रशंसा की है, वर्णाश्रम धर्म मार्ग के पालन को उत्तम बताया है, किन्तु उनका अत्यन्त बल शरणागति मार्ग ब्रह्मार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म योग अथवा भक्ति मार्ग पर ही है। इसी से आरम्भ किया है बीच बीच में इसी पर बारबार बल दिया है और अन्त में इसी को कहकर ग्रन्थ का उपसंहार किया है। अब आप सांख्य सिद्धान्तानुसार कर्मों की सिद्धि के पाँच हेतुओं पर विचार करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने सम्पूर्ण कर्मों के कारणों के सम्बन्ध में पूछा।" तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! नित्य कर्म, नैमित्तिककर्म, काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म आदि जितने भी कर्म किये जाते हैं, उनकी सिद्धि के पाँच ही कारण हैं। उनको मुझसे सम्यक् प्रकार से जान लो।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! वे पाँच कारण कौन-कौन से हैं? और आप यह भी बता दें कि यह मत आप ज्ञान मार्ग के अनुसार, या कर्म मार्ग के अनुसार अथवा भक्ति मार्ग के सिद्धान्तानुसार बता रहे हैं?"

भगवान् ने कहा—"हे महाबाहो! यह सिद्धांत मैं उस सांख्य मार्ग या ज्ञान मार्ग के सिद्धान्तानुसार बता रहा हूँ, जिसमें कर्मों का अन्त कर देना माना गया है। वे पाँच कारण ये हैं। (१) अधिष्ठान, (२) कर्ता, (३) भिन्न-भिन्न प्रकार के करण, (४) तथा नाना प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टायें, (५) और पाँचवाँ हेतु है दैव।"

अर्जुन ने पूछा—"अधिष्ठान किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जिसमें रहकर कर्म किये जायँ उस स्थान का नाम अधिष्ठान है। अधिष्ठीयतेऽत्र अधिष्ठानम्। नगर को भी अधिष्ठान कहते हैं। क्षेत्र का भी नाम अधिष्ठान है यहाँ अधिष्ठान से शरीर का ही तात्पर्य है, जिसके द्वारा इच्छा, द्वेष सुख-दुख तथा चेतना की अभिव्यक्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्ता का तात्पर्य क्या है?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्मों को करने वाला है उसी का नाम कर्ता है। अहंकार से विमूढ़ात्मा है वही अपने को कर्ता मान बैठा है (अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते) यह ज्ञान शक्ति प्रधान शुद्ध पंचभूतों का जो कार्य रूप अहकार है। वही

अपने को कर्मों का कर्ता माने बैठा है। अतः पहिला हेतु देह दूसरा अहंकार।

अर्जुन ने पूछा—"पृथक् पृथक् करणों से यहाँ तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"जिसके द्वारा कार्य सपादित किया जाता हो उसे करण कहते हैं। जैसे यज्ञादि मे स्रुक् स्रुवा आदि पात्रों से यज्ञ कार्य सपादन किया जाता है वे यज्ञ के करण उपकरण हैं। उसी प्रकार कर्ता जिनके द्वारा कार्य करता है उन्हे करण कहते हैं। इन्द्रियो का ही दूसरा नाम करण है। वे करण दो प्रकार के होते है। बाह्यकरण और अन्त.करण। बाह्यकरण तो पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाता हैं। भीतर की इन्द्रियाँ अर्थात् अन्त करण मन, बुद्धि चित्त और अहंकार को कहते हैं। अहकार को तो कर्ता मे ही पृथक गिना दिया। चित्त और मन को सांख्य वाले पृथक् नहीं मानते। अत' दस बाह्य इन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि इन बारह का नाम करण है।"

अर्जुन ने पूछा—"पृथक् पृथक् विविध चेष्टाओ से तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"चेष्टा कहते हैं इन्द्रियों के विविध व्यापारों का। जैसे पैरों का चेष्टा है एक स्थान से दूसरे स्थानो पर जाना। हाथो की चेष्टा है उठाना, धरना ऊपर नीचे दाये बायें करना, खुजलाना आदि। आँखों की चेष्टा है, खोलाना, मींचना, देखना इसी प्रकार सभी बाह्य इन्द्रियों की चेष्टायें समझ लेनी चाहिये। मन की चेष्टा है सकल्प विकल्प करना। बुद्धि का चेष्टा है निश्चय करना। इस प्रकार भिन्न भिन्न इन्द्रियों का भिन्न भिन्न चेष्टायें हुआ करती हैं। ये पृथक् पृथक् चेष्टायें भी कर्मों की सिद्धि मे हेतु बताई गयी हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"अधिष्ठान, कर्ता, करण और चेष्टायें ये चार कारण तो जान लिये अब पचम हेतु जो दैव बताया, उस दैव से अभिप्राय क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"संचित कर्मों में से एक जन्म के लिये नियत आये हुए कर्मों को दैव कहते हैं। इन्हें कोई देख नहीं सकता इसलिये उनको अदृष्ट भी कहते हैं। जन्मान्तरीय संस्कार या भाग्य भी इसी का नाम है। शरीर के आरंभ होते ही जो अपना कार्य करने लगे इसीलिये उस दैव को ही प्रारब्ध भी कहते हैं। और उन कर्मों का बिना भोग किये किसी प्रकार क्षय नहीं होता। यह दैव कर्मों की सिद्धि में पाँचवा हेतु है। दैव से पंच भूत तथा इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों को भी लिया जा सकता है। जैसे अधिष्ठान यह शरीर है। शरीर पार्थिव है, तो इस शरीर की अधिष्ठातृ देवी पृथ्वी है। अहकार के अधिष्ठातृ देव रुद्र हैं। इन्द्रियों में कानों की अधिष्ठातृ देव दिशाये हैं। त्वचा के वायु, चक्षु के सूर्य, रसना के प्रचेता और घ्राण के अश्विनी कुमार अधिष्ठातृ देव है। इसी प्रकार वाणी के अग्नि, हाथों के इन्द्र, पैरों के उपेन्द्र, गुदा के मित्र और उपस्थ के प्रजापति अधिष्ठातृ देव हैं। मनके अधिष्ठातृ देव चन्द्रमा और बुद्धि के बृहस्पति हैं। पंच प्राणों में से प्राण के सद्योजात, अपान के वामदेव, उदान के अघोर, समान के तत्पुरुष और व्यान के ईशान अधिष्ठातृ देव हैं। ये अधिष्ठातृ देव इन्द्रियादिको के अनुग्राहक हैं ये भी एक प्रकार से कर्मों की सिद्धि में हेतु हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! उचित अनुचित कैसे भी कर्म हों, ये ही सब कर्मों के हेतु होते हैं क्या ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् इनकी हेतुता के सम्बन्ध में जो बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

'अधिष्ठान' है प्रथम देह कारज सब ग्वाते।
'कर्ता' दूसर हेतु करै कारज सब जाते॥
तीसर हैं ये 'करन' वाह्य अन्तः कहलावें।
चेष्टा जो हैं पृथक् विविध चौथी बतलावें॥
'दैव' हेतु पंचम कह्यो, जिहि अदृष्टहू सब कहत।
सुखद साँख्य सिद्धान्त तैं, हेतु पाँच पंडित भनत॥

आत्मा अकर्ता है

[६]

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥*

(श्री भग० गी० १ अ० १८, १६ श्लो०)

छप्पय

नरनारी जो करहिँ हेतु ये पाँच कहावैं ।
चाहें मनतें करम करो वा तनहिँ लगावैं ॥
वा बानी तैं बको पाँच बिनु कछू न होवैं ।
तन मन बानी करम सबहिँ इनि ही कूँ जोवैं ॥
करो शास्त्र अनुकूल वा, करो चाहिँ प्रतिकूल तुम ।
कारन ये ही पाँच हैं, सत्य बचन जिह कहहिँ हम ॥

---

* शरीर से, वाणी से और मन से न्याय्य वा विपरीत जो भी कर्म [म]नुष्य प्रारम्भ करता है, उसके ये पाँच कारण हैं ॥१५॥

ऐसा होने पर भी जो केवल आत्मा को ही कर्ता देखता है, वह [अ]शुद्ध मति होने के कारण दुर्मति है। उसका देखना यथार्थ देखना नहीं ॥१६॥

यह जगत त्रितमय है। तीन का संयोग न हो तो जगत चले ही नहीं। तीन मे एक शुद्ध जड़ हैं दूसरा शुद्ध चैतन्य है। तीसरा जड़ चैतन्य मिला जुला-सा है। शुद्ध चैतन्य आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अनादि, केवल, असङ्ग सत्य, चिन्मय, आनन्दमय तथा अकर्ता और अभोक्ता है। प्रकृति तो जड़ ही है, वह स्वतः कुछ भी करने में समर्थ नहीं जब तक कोई चैतन्य उसे चलाने वाला न हो। जड़ के साथ शुद्ध चैतन्य का नहीं चैतन्यांश का जब संयोग होता है, तभी संसार चक्र चलता है, तभी कर्ता-भोक्तापने का उसमे अध्यारोप किया जाता है। जैसे दूध है, जल है दोनों पृथक्-पृथक् है। दोनो का रंग रूप आकृति प्रकृति एक सी नहीं पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु जब जल मे दूध मिला दिया जाता है, तभी भ्रम हो जाता है, उसे शुद्ध दूध भी नहीं कह सकते और जल भी नहीं कह सकते। पानी चाहे जितना भी अधिक हो दूध का अंश मिल जाने से उसके रंग मे श्वेतता आ ही जायगी। भ्रम वश लोग उसे दूध समझने ही लगेंगे। इसी प्रकार अधिष्ठान (देह) करण (भीतर बाहर की इन्द्रियाँ) विविध चेष्टायें (इन्द्रियों के नाना कार्य) और दैव (संचित कर्मों में से एक जन्म के भोगने योग प्रारब्ध कर्म) ये चार तो प्रकृति के कार्य होने से शुद्ध जड़ हैं। ये चारों भले ही मिल जायँ, तो भी स्वतः कुछ भी करने में समर्थ नहीं। जब तक कि कोई करवाने वाला चैतन्य कर्ता न हो। आत्मा तो परमप्रकाशक, अद्वितीय, सत्तास्फूर्ति रूप, परमानन्द स्वरूप, उदासीन तथा अकर्ता हैं। जब यही आत्मा इन अधिष्ठान, करण, विविध चेष्टाओं, और दैव के साथ अपने कुछ अंश से मिल जाता है—चैतन्यांश अर्थात् जीव रूप से तभी उसकी कर्ता संज्ञा हो जाती है। अर्थात् केवल जो आत्मा है अर्थात् इन चारों के संसर्ग से रहित जो शुद्ध चैतन्य है, वह तो कर्ता है नहीं, किन्तु

इन चारो से ससर्गित आत्मा ही कर्ता है। अर्थात् जड और चेतन्य की मिलकर जब सविद कार्य कारिणी परिषद् बन जाती है, तभी ससार का कार्य होने लगता है। किन्तु ज्ञानमार्ग वाले इस बात को नहीं मानते। उनका कथन है, कि जल और दूध का परस्पर मे मिल जाना सम्भव है, क्योंकि वे एक धर्मीय है। लोहा और दूध तो परस्पर मे मिल नही सकते। क्योंकि दोनों का साधर्म्य नहीं है। दोनो पृथक् पृथक् स्वभाव वाले हैं। इसलिये जड और चेतन्य का मिलना असम्भव है। आप कहो कि अविद्या के कारण ऐसा हो जाता होगा, तो अविद्या के कारण मेल मे तो प्रधानता अविद्या की ही हुई। अविद्या जनित कर्तृत्व वाला कुछ कर ही कैसे सकता है।

तब प्रश्न होता है, जड तो कुछ भी करने मे समर्थ नहीं। और आत्मा असग है, वह कर्तृत्व भोक्तृत्व से सर्वथा रहित है, तो फिर यह ससार चक्र चल कैसे रहा है। इसका उत्तर देते हुए कहते है, वास्तव मे आत्मा तो कर्ता है ही नहीं किन्तु अहकार के कारण ही विमूढात्मा पुरुष अपने को व्यर्थ मे ही कर्ता मान बठता है। आत्मा तो जड प्रकृति मे मिलता नहीं किन्तु प्रतिबिम्बित होने के कारण अविद्यावश उसमे कर्तापने का आरोप कर लिया जाता है।

जेसे छोटे बडे, भिन्न भिन्न रग वाले पात्रों मे जल भरा हुआ है, जल भिन्न है, सूर्य भिन्न है, उन दोनो का एकत्रीकरण असम्भव है, किन्तु जल मे सूर्य का प्रतिबिम्ब पडता है। वायु लगने से जल हिलता है, उसके साथ ही वह प्रतिबिम्बित सूर्य भी हिलता डुलता सा प्रतीत होने लगता है। पात्र भेद से प्रतिबिंब भी भिन्न भिन्न रूपों म भिन्न भिन्न क्रियायें करता-सा दिखायी देगा। वास्तविक सूर्य न क्रिया करता है न हिलता डुलता है। इसी

प्रकार जो अकृत बुद्धि हैं मूर्ख हैं, जिन्होंने श्रेष्ठ पुरुषों का संग नहीं किया है, आचार्य चरणों में बैठकर ज्ञानकी उपलब्धि नहीं की है, वे ही आत्मा मे कर्तापने का आरोप करते हैं।

इस प्रकार कर्म के जो (१) अधिष्ठान (२) कर्ता (३) करण (४) चेष्टायें और (५) दैव ये पाँच हेतु बताये हैं। इनमे चार तो प्रकृति के कार्य हैं ही। अब अपने को जो कर्ता समझता है, वह तो कर्मों के बंधनों में बँधकर चौरासी के चक्कर में अविद्या के घेरे मे घूमता रहता है। जो अपने को कर्ता समझता ही नहीं। वह यही मानता है, कि यह जो भी कुछ हो रहा है, सब प्रकृति का ही खेल है। आत्मा तो अकर्ता है। ब्रह्म प्राप्ति मे यही भ्रांति बाधक है, कि प्रकृति के किये हुए भिन्न-भिन्न कार्यों को अपना ही किया हुआ समझना। जब अपने को शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप मानकर प्रकृति में होने वाले कार्यों को, प्रकृति जन्य व्यापार मान ले। और समस्त भूतों के पृथक्-पृथक् भावों को एक में ही स्थित देखें। समझे यह प्रकृति का ही विस्तार हो रहा है। आत्मा तो सर्वथा अकर्ता है, वास्तव में वही ज्ञानी पुरुष है, फिर वह कर्मों को कर्ता हुआ भी अकर्ता ही बना रहता है। कर्म जन्य भले बुरे फल उसको नहीं लगते। वह कर्मों के फलों से सदा अलिप्त बना रहता है।

सूतजी कहते हैं– मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् पुनः इन पाँचों को कर्म मे हेतु बता कर आत्मा को कर्तृत्व से पृथक बताते हुए कह रहे हैं–"अर्जुन! शास्त्रों मे शारीरिक वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के कर्म प्रसिद्ध हैं।"

अर्जुन ने पूछा - "शारीरिक कर्म किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो शरीर मे इन्द्रियों द्वारा किये हुए

कर्म हैं, उन्हें शारीरिक कर्म कहते हैं जैसे चलना फिरना, छूना उठाना धरना, देखना, सुनना आदि-आदि।

अर्जुन ने पूछा—"वाचिक कर्म किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्म वाणी द्वारा बोलकर किये जायँ। सत्य बोलना, असत्य बोलना, प्रेम से बोलना, क्रोध में भर कर बोलना गाली देना आदि।"

अर्जुन ने पूछा—"वाणी भी तो एक इन्द्रिय ही है वाचिक कर्मों को शारीरिक कर्मों से पृथक् क्यों बताया गया ?"

भगवान् ने कहा—"बात यह है, कि एक मनुष्य शरीर ही ऐसा है, जिसे कर्मों का पुण्य और पाप लगता है। मनुष्य शरीर द्वारा ही क्रियमाण कर्म होते हैं। यही कर्मयोनि है। शेष समस्त योनियाँ भोगयोनियाँ हैं, अन्य योनियों मे मनुष्य पिछले कर्मों के भोगो को ही भोग सकता है। पृथ्वी की जितनी भी योनियाँ हैं, उन सब मे मनुष्य ही ऐसा है जिसका सिर ऊँचा हैं, जो हँस सकता है, जिसके बाल सफेद होते हैं। मनुष्य की भाँति किसी योनि वाले का सिर ठीक ऊँचा नहीं। मनुष्य का बालक भी मुस्कराता है, हँसता है, अवस्था आने पर मनुष्य के ही बाल सफेद होते हैं अन्य पशु पक्षियो के नहीं। अन्य इन्द्रियाँ अपने कामो को स्वयं करती हैं दूसरे उन्हें करती हुई देख सकते हैं, एक वाणी ही ऐसी इन्द्रिय है, जिसके काम को अंधा भी समझ सकता है, यह बोल कर अपने भावों को असंख्यो लोगों पर–मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवों पर व्यक्त करती है। अतः अन्य इन्द्रियों के कर्मों से इसके कर्म को पृथक् कर दिया। कर्मों में कोई व्यक्ति प्रवृत्त होता है, तो वह या तो शरीर से या वाणी से या मन से अथवा तीनो से प्रवृत्त होता है। जैसे हम किसी बोझा से लदी गाड़ी को ठेल रहे हैं, तो पैरों से चलते हैं

हाथों से बल लगाते हैं, ठेलने मे मन बुद्धि का प्रयोग करते हैं ओर वाणी से बताते जाते हैं। कर्म करते समय, वाणी की विशेषता होती है, अतः वाणी को अन्य इन्द्रियों के कर्म से पृथक् बताया गया है। प्रवृत्तियाँ शारीरिक वाचिक तथा मानसिक तीन ही प्रकार की मानी हे। ये प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो न्याय्य दूसरी विपरीत।

अर्जुन ने पूछा—"न्याय्य प्रवृत्ति किसे कहते ?"

भगवान् ने कहा—"न्याय्य कर्म तो वे कहलाते हैं, जिनकी शास्त्रों मे आज्ञा हे। जैसे धर्म का आचरण करना, सत्य बोलना, मन से शिव सकल्प करना इत्यादि-इत्यादि।"

अर्जुन ने पूछा—"विपरीत कर्म किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"शास्त्रविरुद्ध कर्म करना जेसे अधर्म का आचरण करना, असत्य भाषण करना। मन से दूसरों का अनिष्ट चिंतन करना इत्यादि-इत्यादि। इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टायें तथा दैव ये ही कारण हैं। इन पाँचों मे से एक भी न हों, तो कर्मों की सिद्धि नहीं हो सकती।"

अर्जुन ने पूछा—"अधिष्ठान, करण, चेष्टायें और दैव ये तो सब प्रकृति के कार्य हैं, प्रकृति है जड। चेतन्य के बिना जड स्वय कुछ करने मे समर्थ नहीं, चैतन्यघन एक आत्मा ही हे। अत आत्मा ही कर्ता होगा ? जब आत्मा इनके साथ मिल जाता होगा, तब दुख-सुख भोगता होगा ? आत्मा को ही पुण्य पाप लगता होगा ?"

भगवान ने कहा—"नहीं, आत्मा कर्तृत्व से सर्वथा पृथक् है। जो केवल स्वरूप आत्मा को कर्ता मानता है, वह विवेक शून्य मलिन बुद्धि वाला अज्ञानी यथार्थ समझता ही नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"जब चैतन्य आत्मा कर्ता नहीं तब कर्ता कौन है ?"

भगवान् ने कहा—"कर्ता चैतन्य नहीं। चैतन्य की सत्ता से चैतन्य के प्रतिबिम्ब के प्रकाश मे अहंकार विमूढ़ात्मा ही अपने को कर्ता मान बैठा है। यही अज्ञान है। कोई सिंह शावक है, अज्ञानवश अपने को शशक मान बैठा है, जब बोध हो गया, तो उसमे से शशक निकल नहीं गया, सिंह कहीं से आ नहीं गया, केवल भ्रम मिट जाने से वह शशकत्व के अहंकार से विमुक्त हो गया। इसी प्रकार जीवत्व का कर्तृत्व का अभिमान मिट जाने पर कर्म करते रहने पर भी उसे पुण्य पाप नहीं लगता। आत्मा कर्ता न पहिले था, न है, न होगा। वह तो सर्वथा विशुद्ध तथा निर्विकार है, उसके छाया रूप किसी अंश के द्वारा अज्ञानवश कर्तृत्व का आरोप हो गया था। ज्ञान हो जाने पर वह भी समाप्त हो गया। फिर वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सत्य असत्य सबसे परे हो जाता है। निरहंकृत हो जाने पर कर्म तथा कर्मों के फल उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते।"

अर्जुन ने पूछा—"जिसने आत्मा के यथार्थ रूप को समझ लिया है और अपने को कर्तापने से पृथक् जान लिया है, उसकी स्थिति कैसी होती है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

इनि पाँचनि में कह्यो एक कर्ता तिहि जानो।
आत्मा कर्ता नहीं अहयुत जीवहिं मानो॥
जो आत्मा है शुद्ध ताहि करता करि मानत।
तिनिकी बुद्धि अशुद्ध अज्ञ वे कछु नहिं जानत॥
पाँच हेतु जो सांख्य में, अधिष्ठान आदिक कहे।
आत्मा तो निरलेप है, कर्ता बनि कस फल सहे॥

अनहंकृत भाव वाला कर्मबन्धन से बँधता नहीं

[१०]

यस्य नाहँकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाॅल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥*
(श्री भग० गी० १८ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

अहमाव तैं रहित जीव जबई ह्वै जावै ।
करै फेरि सब कछू नहीं फल करमनि पावै ॥
जाके अन्तःकरन न करतापन अभिमाना ।
बुद्धि न होवै लिप्त करै वह करमनि नाना ॥
वह चाहे करवाल गहि, सब लोकनि मारत फिरत ।
मारन हारो है नहीं, और पाप में नहिं बँधत ॥

बन्धन का कारण कर्म नहीं। कर्मों में जो कर्तापने का अभिमान करके उस कर्म के फलों मे जो आसक्ति है वही बन्धन का कारण है। वास्तव में बन्धन का कारण अहंकृति ही है। अतः तीन प्रकार के जो अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित कर्म हैं,

---

* जिस पुरुष को मैं कर्ता हूँ, ऐसा भाव नही है और कर्मों म जिसकी बुद्धि लिप्त नही होती। वह यदि सम्पूर्ण लोको को मार भी डाले, तो वास्तव मे वह न मारता है और न उसके पाप से बँधता है।

उनका फल अत्यागियों को–अहं बुद्धि वालों को–ही भोगना पड़ता है। जो त्यागी हैं, संन्यासी हैं, जिनमें अहंकृति भाव नहीं है, ऐसे पुरुषों को कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता। बड़े-बड़े नगरों की नगर पालिका की सीमा में मल-मूत्र त्यागने के एक नियत स्थान होते हैं। उन स्थानों के अतिरिक्त सार्वजनिक स्थानों में मल-मूत्र त्यागने वाला दंडनीय माना जाता है, किन्तु यह विधान बुद्धि से विचार करके काम करने वाले मनुष्यों पर ही लागू होता है। पशु पक्षियो के ऊपर यह नियम लागू नहीं होता। मनुष्यों में भी अबोध शिशुओं पर लागू नहीं होता, पागलों पर भी लागू नहीं होता, क्योंकि वे बुद्धि से विचार कर काम करने की सामर्थ्य नहीं रखते। मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त, जड, अबोध ये विचार पूर्वक कार्य नहीं करते। इसी प्रकार जो अहकार से शून्य है जिसे निश्चय हो गया है, सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जा रहे हैं। वह समझता है–गुण गुणों मे वर्त रहे हैं, मैं तो आत्मस्वरूप हूँ। आत्मा कर्ता नहीं। वह असंग है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा कार्य कारण से रहित है। यह असंग है, साक्षी, चेता, केवल और गुणों से रहित है। वह प्राण तथा मन से रहित शुद्ध अक्षर है। पर से भी परे है। आत्मा अजन्मा महान् और नित्य है। यह, अज, अच्युत, शाश्वत तथा पुरातन है। यह कालपीन, क्रिया हीन, शान्त, निर्मल और निर्लेप है। यह अविकार्य तथा प्राकृत गुणों से परे है।

एक पत्रालय का अधिकारी है, उसके पास सहस्रों पत्र आते हैं, सैकड़ों धनादेश आते हैं। उनमें उसकी कोई आसक्ति नहीं। उसे इस बात का ज्ञान है, कि ये जो पत्र तथा धनादेश हैं, इनमें मेरा कुछ नहीं है। केवल मेरे द्वारा ये वितरण के निमित्त आते हैं। अतः उनके आने पर उसे कोई हर्ष नहीं। वितरण हो जाने

पर उसे विपाद नहीं, क्योंकि हाथ में आने पर भी उनमें उसकी कोई आसक्ति नहीं। अपनेपन का भाव नहीं। अपना मानकर उनमें भोग बुद्धि भी नहीं। अतः हाथ में आने पर भी वह उनके बन्धनों से सदा अलिप्त बना रहा है।

टकसाल में अरवों खरवों रुपये बनते हैं, किन्तु बनाने वाले को उनसे क्या प्रयोजन ? रुपये चाहे जितने बन जायँ, उसे तो नियत वेतन ही मिलेगा। उनमें उसका अपनापन नहीं, आसक्ति नहीं वह तो केवल बनाने वाला है, उनके फल भोक्ता दूसरे हैं। उनके नष्ट हो जाने पर उसे हर्ष विपाद उतनी ही मात्रा में होगा, जितनी मात्रा में उसका अहंभाव है। यदि अहंभाव तनिक भी नहीं है, तो समस्त टकसाल के नष्ट हो जाने पर भी उसे न हर्ष होगा न विपाद।

इसी प्रकार ज्ञानी पुरुप प्रारब्ध कर्मों का भोग समझकर अभिमान शून्य होकर कर्मों को करता रहता है, उन कर्मों के फलों की तनिक भी इच्छा उसके मन में नहीं है। अतः कर्मों को कर्ता हुआ भी वह अकर्ता ही है, अहंकार से रहित होकर वह जो भी करता है, उसका पुण्य पाप उसे नहीं लगता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने अहंकृति हीन पुरुप की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—देखो, अर्जुन ! अहंकार दो प्रकार का होता है, एक सामान्य अहंकार दूसरा विशेष अहंकार। पुराणों में जहाँ सृष्टि का वर्णन आता है, वहाँ प्रकृति से महत्तत्व और महत्तत्व से अहंकार उत्पन्न हुआ। वह अहंकार सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का बताया है। सात्त्विक अहंकार से मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव उत्पन्न हुए। राजस अहंकार से दश इन्द्रियाँ

उत्पन्न हुईं और तामस अहंकार से सूक्ष्म पंच भूतों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अहंकार से ही सबकी उत्पत्ति हुई।"

वेदान्त के मत में अन्तःकरण की अहंकार एक वृत्ति है। मन बुद्धि, चित्त और अहंकार इनको अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। वास्तव में अन्तःकरण तो एक ही है। उसकी वृत्ति चार हैं। अन्तःकरण में जब संकल्प विकल्प होता है किसी विषय का मनन करने लगता है, तो अन्तःकरण की उस वृत्ति का नाम मन हो जाता है। वही अन्तःकरण जब किसी बात को अपने बोध को निश्चय कर लेता है तो उसी को 'बुद्धि' कहने लगते हैं। वही अन्तःकरण, जब चिन्ता करने लगता है तो उसकी वह वृत्ति चित्त कहलाती है और वही अन्तःकरण जब मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ संन्यासी हूँ, करने वाला हूँ ऐसा अभिमान करने लगता है, तब उसी अन्तःकरण की वृत्ति का नाम अहंकार है।

सामान्य अहंकार तो उसे कहते हैं जिससे इस शरीर की क्रियायें चल रही हैं, बिना अहंकार के श्वास प्रश्वास भी नहीं ली जा सकती, पलक भी नहीं गिराये उठाये जा सकते। हाथ पैर भी नहीं हिलाये डुलाये जा सकते। यह सामान्य अहंकार तो जब तक प्रारब्ध कर्म हैं, जब तक शरीर है तब तक आवश्यक है। यह अभिमान कुछ अनिष्ट नहीं करता।

एक विशेष अहंकार है, जिसे मद, स्मय, अवलेप दर्प गर्व अथवा अभिमान कहते हैं। यह अभिमान ही बन्धन का हेतु है। शरीरादि वस्तुओं में जो ममतापने का मिथ्याज्ञान है इसी के कारण पुरुष अपने को कर्ता भोक्ता मानकर नाना योनियों में कर्मों के फलों को भोगता रहता है। जिस समय यह ज्ञान हो जाय कि शुद्ध चैतन्य आत्मा कर्तापने से सर्वथा विमुक्त है, वह तो केवल साक्षी मात्र है, उस समय समस्त शारीरिक क्रियायें

होते रहने पर भी पुरुष कर्ता पने के बंधन मे नहीं बँधता, उसे अच्छे बुरे तथा मिश्रित कर्मों का तनिक भी फल भोगना नहीं पडता।

अर्जुन ने पूछा—"जिसे पूर्ण ज्ञान हो गया है, जिसका कर्ता पने का अभिमान नष्ट हो गया और जिसकी बुद्धि कर्मों में लिप्त नहीं होती, यदि वह दान, धर्म, यज्ञ आदि करे, तो उनका कुछ पुण्य उसे मिलेगा कि नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"यह तुम्हारा प्रश्न ही अनुचित है, जो धर्म अधर्म, पुण्य पाप, अच्छा बुरा इन सब में समान हो गया है, जिसे कर्तृत्व अभिमान नहीं, कर्मों के फलों की इच्छा नहीं, उसे पुण्य कैसे लग सकता है ?"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा मान लो, ऐसा ज्ञानी किसी की हत्या कर दे, तो उसे हत्या का पाप लगेगा नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"फिर वही बात, अरे भाई एक आदमी की हत्या नहीं, ऐसा अनहंकृति वाला पुरुष शस्त्र लेकर सम्पूर्ण लोक के जीवों का भी बध कर दे, तो न वह वास्तव में मारता है न वह पाप से बँधता है। मारता तो इसलिये नहीं है, कि वह मारने की क्रिया बिना किसी संकल्प के-बिना किसी अहकार के-करता है और बँधता इसलिये नहीं कि उसके अन्तःकरण में किसी करके फल की आकांक्षा नहीं। जब वह पाप पुण्य से परे है, तो बँधेगा किस प्रकार ? क्योंकि वह तो आत्मरूप हो चुका है। आत्मा पाप पुण्य से न घटता है न बढता है। आत्मा न किसी को मारता है न किसी द्वारा मारा जाता है। अतः वह पाप पुण्य से भी रहित है। वास्तविक बात यह है, कि जिसे पूर्ण ज्ञान हो चुका है, वह किसी के मारने में प्रवृत्त ही न होगा, किन्तु कृष्ट कल्पना के आधार पर यह असंभव बात संभव भी

हो जाय, तो भी उसे जैसे शुभ कर्म का फल पुण्य नहीं मिलता, उसी प्रकार अशुभ कर्म का फल पाप भी न लगेगा। अर्थात् वह सदा सर्वदा अलिप्त बना रहेगा। आत्मा का देह के द्वारा, वाणी के द्वारा तथा अन्तःकरण के द्वारा किये हुए कर्मों से कोई भी सम्बन्ध नहीं।"

अर्जुन ने पूछा - "कर्मों के पाँच हेतु तो जान लिये और यह भी जान लिया कि आत्मा अकर्ता तथा अभोक्ता है। अब कर्मों के अङ्ग प्रत्यङ्गों को मुझे भली भाँति समझाइये। अर्थात् जितने कर्म होते हैं किन किन की प्रेरणा से होते हैं और क्रिया के आश्रय कौन कौन हैं। मुझे कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह का रहस्य बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने आरम्भ मे ही कह दिया था कि मैं सांख्य मार्ग के अनुसार कर्मों का हेतु बताता हूँ, इसलिये जो यह कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह का प्रतिपादन भगवान् आगे करेंगे, उसे सांख्य मत के अनुसार ही समझना चाहिये। अर्जुन के प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

आतमा है निरलेप मरै नहिँ काहू मारै।
करम करै कछु नाहिँ उबारै नहिँ सहारै॥
फल की इच्छा नाहिँ करम तैं लिप्त होइ कस?
पाप पुन्य तैं रहित न होवै दुख सुख जस तस।
अहंकर्ता बिनु करम जो, भुनै बीज के सरिस है।
बोओ ताकूँ खेत में, नहिँ अकुर नहिँ फलहि है॥

कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रह

[११]

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥*

(श्री भ० गी० १८ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

कर्म प्रेरणा और संग्रहहु करम सुनहु अब।
इन दोउनि कूँ समुझि मिटै अरजुन। संशय सब॥
करम चोदना तीनि भाँति की मुनिनि बताई।
ज्ञान ज्ञेय द्वै कहे परिज्ञाता हू भाई॥
कह्यो करम संग्रह त्रिविध, तिनहिँ सुनहु अरजुन सविधि।
करम करन कर्ता कहे, चने करम इनितैं विविध॥

कर्ता के द्वारा जो-जो क्रियायें होती हैं, उनके आश्रय क्या हैं और कर्म करने में प्रेरणा किनके द्वारा मिलती है। इन बातों का पता लग जाय, तो कर्मों का रहस्य भली-भाँति समझा जा सकता है। हम जो भी क्रिया करते हैं वह कर्म सिद्धि के लिये करते हैं। अतः क्रियायें दो प्रकार की होती हैं कर्म सहित क्रियायें और कर्म रहित क्रियायें। जिन क्रियाओं में कर्म पृथक् से नहीं जोड़ना

---

* कर्म के प्रेरक ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीन हैं। कर्मों के संग्राहक कर्ता, करण और कर्म ये तीन हैं ॥१८॥

पडता क्रिया में ही कर्म सम्मिलित रहता है वे सकर्मक क्रियायें कहलाती हैं। इसलिये सकर्मक धातु से कर्म कर्ता मे लकार का प्रयोग होता है और अकर्मक धातु से भाव और कर्ता में होता हे। व्यापार को क्रिया कहते हैं, फल के आश्रय को कर्म कहते हैं। उस व्यापार को करने वाले का नाम कर्ता है। जिस क्रिया में फल और व्यापार भिन्न भिन्न हों उसे सकर्म कहते हैं, जैसे देवदत्त भात पकाता है। इसमें पकाना तो देवदत्त का काम हे और जो पक रहा है वह भात का काम है। अतः यह सकर्मक क्रिया हुई।

जिसका फल और व्यापार एक ही आश्रय में हो उसे अकर्मक कहते हैं, जैसे विष्णुमित्र सोता हे। यहाँ सोने का फल जो विश्राम सुख हैऔर सोने की क्रिया जो आखें बन्द करके पड रहना हे वह एक ही कर्ता विष्णुमित्र में हैं अतः यह धातु अकर्म हे। जिस क्रिया में आकाक्षा हो उसे सकर्मक कहते हैं। जैसे पढता हे, खाता है, पीता हे। इनमें यह आकाक्षा रहेगी क्या पढता है ? वेद, शास्त्र इतिहास आदि। क्या खाता हे, लड्डू, पेडा, रोटी, भात आदि। क्यापीता हे जल, दूध, शरबत आदि अतः यह धातु सकर्म है। जिसमे आकाक्षा न हो वह अकर्म हे। जेसे जागता हे, हँसता है, रोता है, इसमें आकाक्षा नहीं है कर्म की। क्रिया के साथ ही व्यापार फल जुडा हुआ है। अतः यह धातु अकर्मक हे।

प्रत्येक क्रिया के संपादन के लिये ८ आठ उपकरण आवश्यक होते हैं। (१) कर्ता, (२) कर्म, (३) करण, (४) संप्रदान, (५) अपादान, (६) सम्बन्ध, (७) अधिकरण और (८) सम्बोधन। सम्बोधन तो कर्ता को बुलाने के ही काम में आता है, अतः उसे तो कर्ता के अन्तर्गत ही मानना चाहिये। अब कर्ता किसे कहते हैं। कर्ता के अतिरिक्त ये जो शेष ६ हैं उन सबकी कारक संज्ञा ही माननी चाहिये। कर्ता अन्य कारकों से अप्रयोज्य है। दूसरे कारक इससे

क्रिया की निष्पत्ति नहीं करा सकते किन्तु यह कर्ता समस्त कारकों का प्रयोजक है। अर्थात् इस कर्ता को जो भी क्रिया करानी होती हैं, इन कारको की सहायता से ही कराता है। ये कर्ता चित् और अचित् दोनों की ही ग्रन्थि रूप है। चैतन्याश के विना जड कर्ता कुछ करने मे समर्थ ही नहीं हो सकता।

कर्म—कर्म उसे कहते हैं जिसे कर्ता करना चाहता है समस्त कारकों मे कर्म ही कर्ता के अधिक सन्निकट ह। (यत क्रियते तत् कर्म) कर्ता को जो अधिक अभीष्ट हो वह कर्म ह। चाहे वनाना हो, उत्पन करना, सस्कारादि करना हो वह कर्म है।

करण—जिसके द्वारा कार्य सम्पादन होता हे उसे करण कहते है। जैसे रामजी ने वाण के द्वारा वाली को मारा। मारने मे वाण साधक हुआ अतः वाण करण हुआ। जो क्रिया की निष्पत्ति मे कारण हे जेसे सॉखी से धान्य को उलट पलटरहे हे। उलटते पलटते तो हाथों से हे किन्तु हाथ मे जो एक लडकी का यन्त्र ले रखा हे, वही कारण ह अतः यहाॅ लक्डी की सॉखी ही करण ह।

सम्प्रदान—सम्प्रदान उसे कहते हे, जिसके लिये क्रिया की जाती हे। (सम्यक् प्रकारेण दानम्सप्रदानम्) जेसे ब्राह्मण के लिये धन दो। यहाॅ जिस ब्राह्मण के लिये कर्ता दान दे वह सम्प्रदान ह। जेसे श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार हे। आचार्य के लिये नमस्कार है।

अपादान—अपादान उसे कहते है कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु विलग हो। जैसे पेड से पत्ता गिरता है। यह अपादान ग्यारह अर्थों मे प्रयुक्त होता है। १—पृथक् होने मे, डरने में, निन्दा मे, पराजय में, प्रमाद मे, आदान में, उत्पन्न होने मे, रक्षा करने मे, विश्राम या विराम मे, विद्यादि धारण कराने मे और

निवारण कराने में जैसे पृथक् होने में पेड़ से पत्ता गिरता है। डरने में-सिंह से डरता है। निन्दा मे-धीर पुरुष पाप से घृणा करते हैं। पराजय में-हाथी सिंह से पराजित होता है। प्रमाद मे-नीच पुरुष धर्म से प्रमाद करता है। आदान में-ब्राह्मण राजा से धन लेता है। पैदा होने मे-पिता से पुत्र पैदा होता है। रक्षा मे-गोप सिंह से गौ की रक्षा करता है। विराम मे-ब्राह्मण जप से विराम लेता है। विद्यादि धारण करने में-शिष्य गुरु से विद्या धारण करता है। और वारण में-जौ के खेत से गौ को निवारण करता है। तात्पर्य यह है कि जिससे वस्तु का विश्लेश हो उसे अपादान कहते हैं।

सम्बन्ध—सम्बन्ध उसे कहते हैं, जिस कर्ता से जो सम्बन्धित हो। जैसे राजपुरुष जो पुरुष राजा से सम्बन्धित हो वह राज पुरुष कहलावेगा। रामदास—जो रामचन्द्र जी का दास हो।

अधिकरण—अधिकरण उसे कहते हैं जो कर्ता का आधार हो। वह चार प्रकार से व्यक्त किया जाता है। एक तो समीपता मे दूसरे आश्लेष मे, तीसरे विषय में और चौथे व्याप्ति मे। जैसे सामीप्य मे गंगाजी में गोओं के रहने का स्थान है। यहाँ गगाजी मे कहने से तात्पर्य गगाजी के बीच मे नहीं गगाजी के समीप तट से है। आजकल मैं यमुनाजी मे रमण कर रहा हूँ। इसका अर्थ हुआ यमुना किनारे आनन्द ले रहा हूँ। आश्लेष मे-जैसे स्वर्ग में देवता रहते है, वन मे विहार कर रहा हूँ। इसमें देवता स्वर्ग में सटे हुए हैं उसमे मिले हुए हैं। वन के बीच मे ही रमण कर रहा हूँ।

विषय में—जैसे ये पंडितजी शास्त्र में निपुण हैं। यह नायक केलिकला मे निपुण है। यहाँ कला और शास्त्र विषय हैं उसमें कर्ता निपुण है।

इस प्रकार क्रिया के निष्पन्न करने में एक कर्ता और ६ कारकों की आवश्यकता होती है। भगवान् ने इनमें से कर्ता, कर्म और करण तीन ही कर्म सग्रह बताये हैं। तीन को बताकर इति कह दिया है, अत: इति शब्द से सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इन तीनों को भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार क्रिया की निष्पत्ति मे कर्ता सहित ७ तो यह कारक कारण हैं। और ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये कर्म की प्रेरणा के भेद है। इनकी प्रेरणा से कर्मों का सग्रह होता है अर्थात् कर्म निष्पादित होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने कर्म प्रेरणा और कर्म सग्रह के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भगवान् ने कहा—अर्जुन अनेक बार प्रसग आने पर मैं बता चुका हूँ, कि यह जगत् त्रिगुणात्मक है। सब कार्य त्रिपुटी के द्वारा ही हो रहा हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"त्रिपुटी क्या ?"

भगवान् ने कहा—"एक कर्ता दूसरा कर्म तीसरे उसके करण। जैसे कुम्भकार तो कर्ता है, उसका कर्म है वर्तनों का निर्माण और वर्तन बनाने के साधन मृत्तिका, चाक, डडा, सूत, जल आदि उपकरण हैं। ऐसे ही सभी म तीन-तीन पुट लगा देने से त्रिपुटी हो जाती है। अब तुम कर्म प्रेरणा के सम्बन्ध में पूछ रहे हो, तो कर्म करने की प्रेरणा पहिले अन्त करण में उठती है। उसमें भी तीन ही होते हैं ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय। ये तीन कर्मों की प्रेरणा म कारण है।"

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञाता किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्ता है, वह सहसा आँख मींचकर काम नहीं करने लगता। किसी भी काम करने के पूर्व जो उस कार्य के सम्बन्ध में विचार करने वाला है, उसी का नाम ज्ञाता या परिज्ञाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञान क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जिस वस्तु को ज्ञाता को बनाना है, प्रकाश करना है, उस क्रिया के ज्ञान को अन्तःकरण में भली भाँति समझ लेना ही ज्ञान है।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर ज्ञेय क्या रहा ?"

भगवान् ने कहा—"जिस कर्म को करना है वह कर्म ही ज्ञेय है। जैसे एक चित्रकार है, उसे गणेशजी का एक चित्र निर्माण करना है, तो ऐसा तो है नहीं कि वह तुरन्त तूलिका उठावे और मूर्ति का निर्माण कर दे। पहिले वह कैसी मूर्ति बनानी है, इसके विषय में विचार करेगा। तो विचार करने वाला तो ज्ञाता हुआ उस मूर्ति का आश्रय अर्थात् अन्तःकरण मे होने वाली परिकल्पना का भोक्ता। किस-किस प्रकार मूर्ति का निर्माण होगा, इस विषय के परिज्ञान का नाम ही ज्ञान है। मूर्ति ऐसी और इस प्रकार की होगी यह ज्ञेय हुआ। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीनो ही अन्तः करण सम्बन्धी क्रियायें हैं। अतः ये तीन प्रकार की कर्म प्रेरणायें कहलाती हैं। जब कर्म प्रेरणा द्वारा कर्म करने का निश्चय हो जाता है तब कर्म संग्रह किया जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्म संग्रह क्या ?"

भगवान् ने कहा—"ज्ञाता द्वारा अन्तःकरण मे ज्ञेय ज्ञान का पूर्ण निश्चय हो जाने पर बाह्य इन्द्रियों द्वारा जो उसे मूर्त रूप दिये जाने का कार्य है वही कर्म संग्रह कहलाता है। जैसे अन्तः करण में उस ज्ञाता ने विचार पूर्वक एक मनोमयी मूर्ति बना ली। उस मूर्ति को भीत पर, वस्त्र पर या कागद पर मूर्त रूप देने की जो त्रिपुटी है वही कर्म संग्रह है। मूर्ति को बनाने वाला ज्ञाता ही जब बाह्य इन्द्रियों द्वारा उसे मूर्त रूप देने को उद्यत होता है, तो उसी की कर्ता संज्ञा होती है। अब मूर्ति को बनाने के जो

साधन हैं, वे करण कहलाते हैं। जैसे भींत, वस्त्र या कागद जिस पर मूर्ति बनाई जायगी, जिसके द्वारा बनाई जायगी वे कूँची आदि जिससे बनाई जायगी, वे रंग और उनके पात्र आदि। जिससे पोंछी जायगी, वे वस्त्र आदि ये सभी उपकरण, करण कहलायँगे। जब मूर्ति बनकर तैयार हो गयी तो वह मूर्ति ही कर्म है। इस प्रकार कर्ता, कर्म और करण यही त्रिपुटी कर्म संग्रह कहलावेगी। उस कर्ता का बनाने का-निर्माण करने का-प्रकट करने का-सुसंस्कृत करने का-मुख्य लक्ष्य श्री गणेशजी की मूर्ति का ही था। कर्ता को जो क्रिया परम अभीष्ट हो वही कर्म है। और उसके निर्माण मे जो सहायक हों वे सभी करण हैं। इससे सिद्ध हुआ अन्तःकरण की जो कर्म करने की क्रियायें हैं वे कर्म प्रेरणा हैं और उन प्रेरित कर्मों को मूर्त रूप देने की समस्त वाह्य तथा भीतर की इन्द्रियों की जो क्रियायें वे ही कर्म संग्रह हैं।

अर्जुन ने कहा—"इस कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह के बताने मे तात्पर्य क्या है?"

भगवान् ने कहा—"यहाँ इन दोनों के बताने का तात्पर्य इतना ही है, कि जिस अन्तः करण से कर्मों को करने की प्रेरणायें मिलती हैं, वह अन्तःकरण भी अनात्मा है और जिन इन्द्रियों और अन्य उपकरणों द्वारा कर्म सम्पन्न होता है वे समस्त साधन भी अनात्मा हे, अतः आत्मा अकर्ता है, ये गुण गुणों में स्वतः वर्त रहे हैं। जड और चैतन्यांश की ग्रन्थि रूप जो यह विमूढ़ात्मा जीव है वह व्यर्थ में ही अपने को कर्ता माने बैठा है, जब तक यह अपने को कर्ता मानता रहेगा, तब तक पुण्य-पाप इसे लगेंगे। दुख सुख भोगता रहेगा। जब इसका अहंकृत भाव नष्ट हो जायगा, कर्मों मे इसकी बुद्धि लिपायमान न होगी, उस समय कर्मों को करने पर भी उसे उनका कुछ भी दोष न लगेगा।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आपने ज्ञान, ज्ञेय, और परिज्ञाता तथा करण, कर्म और कर्ता ये दो त्रिपुटी कर्म प्रेरणा और कर्म समह की बतायीं। जैसे आपने सबके सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन प्रकार के भेद बताये, वसे इनमें भी तीन-तीन प्रकार के भेद होते हैं क्या ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, इन दोनों त्रुपुटियों अर्थात् छेओं के भी तीन-तीन भेद हैं। इन्हें मैं तुम्हारे ज्ञान के लिये बताऊँगा। किन्तु सक्षेप करके बताऊँगा।"

अर्जुन कहा—"सक्षेप करके कैसे बतावेंगे भगवन्।"

भगवान् ने कहा—"देखो जो कर्ता है वही परिज्ञाता भी है। अतः ज्ञाता और कर्ता में कोई भेदभाव नहीं। इसी प्रकार जो ज्ञेय है वही करण हो जाता है, अतः ज्ञेय में और करण में कोई भेद नही। अतः पहिली त्रिपुटी में से ज्ञान को लेकर और दूसरी त्रिपुटी में से कर्म और कर्ता को लेकर इस प्रकार तीनों के ही, में सात्त्विक, राजस और तामस भेद बताऊँगा। इन तीनों के अन्तर्गत छेऊ आ जायँगे।"

छप्पय

विषय प्रकाशन क्रिया 'ज्ञान' वहई कहलावै।
जाको होवै ज्ञान 'ज्ञेय' वह करम कहावै।
आश्रय जाको करम परिज्ञाता' तिहि जानो।
होवै साधक क्रिया-माहिं तिनि 'करन' हि मानो॥
जिनिकूँ कर्ता करन हित, उद्यत सोई 'करम' है।
करै काज "कर्ता" वही, छऊ करम के मरम हैं॥

सात्त्विक ज्ञान

[१२]

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुण भेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् । *
(श्री भग० गी० १८ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

करता के हू तीनि भेद पंडित समुझावैं ।
सात्त्विक राजस और तामसिक विज्ञ बतावैं ॥
ऐसे ही गुण भेद कर्म हू त्रिविध बताये ।
ज्ञान भेद हू तीनि ,सत्त्व रज तमस कहाये ॥
करैं शास्त्र जो गुननि की, संख्या तिनि निरनय सुनहु ।
कहूँ सबनि के भेद कूँ, सावधान ह्वै चित धरहु ॥

---

* सांख्य शास्त्र मे गुणो के भेद से ज्ञान, कर्म और कर्ता के भी तीन प्रकार कहे गये हैं, उन तीनो के प्रकारो को भी मुझसे यथावत् सुनो ॥१९॥

जिस ज्ञान के द्वारा समस्त भूतों मे पृथक्-पृथक् एक ही अव्यय भाव को अविभक्त रूप मे देखना है। उस ज्ञान को तुम सात्त्विक ज्ञान जानो ॥२०॥

जो जानने वाला है वह ज्ञाता है, जिस वस्तु को जानता है वह ज्ञेय है और जिस वृत्ति विशेष के द्वारा ज्ञेय वस्तु का निश्चय करता है उसे ज्ञान कहते हैं। वास्तविक ज्ञाता वही है, जो अपनी आत्मा को ही सम्पूर्ण भूतों में देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है। यहाँ देखने वाला ज्ञाता हुआ। आत्मा ज्ञेय हुआ और सर्व भूतों में एक ही आत्मा व्याप्त है यह जो वृत्ति है यही ज्ञान है।

सम्पूर्ण भूत नाशवान हैं, आद्यन्तवन्त हैं। आज हैं कल नहीं हैं। इन नष्ट होने वाले समस्त भूतों में एक ही आत्मा को देखने वाला ज्ञाता है। आत्मा ज्ञेय है और जिस वृत्ति से नष्ट होते हुए सम्पूर्ण भूतों में एक ही आत्मा का अनुभव की जाती है, वही वृत्ति ज्ञान है। ज्ञेय जो वस्तु है उसका व्यय नहीं होता और सब वस्तुएँ घटती बढ़ती रहती हैं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके विभाग टुकड़े न होते हों। इन्द्रियों द्वारा जो भी दिखायी देता है, सबके किसी न किसी प्रकार विभाग हो सकते हैं, वे कई भागों में बाँटे जा सकते हैं। जिसके विभाग हो सकते हैं, वह नष्ट भी हो सकती है। जिस वस्तु के न तो विभाग हो सकते हों और न जो नष्ट हो सकती हो, वही अविनाशी अव्यय तथा अविभक्त वस्तु है वही ज्ञेय है। वही जानने योग्य है, जो वृत्ति इस ज्ञेय के तत्त्व को जानती है उसी का नाम ज्ञान है। जब तक वह वृत्ति जागृत न होगी तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति ही पुरुष का अंतिम ध्येय है। यही पुरुष का परम पुरुषार्थ है। वह ज्ञान के बिना संभव नहीं। कुछ बाल बुद्धि वाले भोले पुरुष कहा करते हैं—हमें मुक्ति नहीं चाहिये हमें तो श्री हरि के चरणों में अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिये। मुक्ति तो भुक्ति की भाँति पिचाशी है, जब तक भुक्ति की भाँति मुक्ति की

भी स्पृहा हृदय में हो तब तक अहेतु की भक्ति नहीं मिल सकती।

ऐसे कहने वाले दुधमुहे बाल बुद्धि वाले भोले बच्चे यह नहीं समझते कि मुक्ति तो संसारी विषयों को भोगने की इच्छा को कहते हैं, संसारी भोग प्रत्यक्ष पदार्थ हैं। मुक्ति कोई पदार्थ तो नहीं मुक्ति तो एक स्थिति का नाम है, जब तक जीव को वह स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक तो वह संसारी विषयों में बँधा हुआ है। बँधे हुए जीव को भक्ति का आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है। जब तक जीव संसारी बन्धनों से मुक्त न होगा, तब तक उसे शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द घन आनन्द परब्रह्म परमात्मा श्री भगवान् का सुख कैसे प्राप्त हो सकता है। आप चाहे सांख्य मतावलम्बी हों, चाहे वर्णाश्रम रूप कर्मावलम्बी हों, अथवा सर्व कर्मार्पण रूप निष्काम कर्म कर्ता भक्ति मार्गावलम्बी हो, सर्व प्रथम संसारी बन्धनों से विमुक्त तो बनना ही होगा, मुक्ति तो प्राप्त करनी ही होगी। मुक्ति की स्पृहा को स्पृहा नहीं कहते, जैसे भगवत् सम्बन्धी जो कर्म है वे कर्म नहीं कहलाते। इसी प्रकार कोई भी मार्ग हो ज्ञान तो उसमें आवश्यक ही है। अज्ञानी को भगवत प्राप्ति या मुक्ति कैसे हो सकती है। अतः मुक्ति के नाम से ही डर जाना, ज्ञान के नाम से ही भयभीत हो जाना यह भक्तों का लक्षण नहीं। अज्ञों का लक्षण है।

आप कहेंगे भागवतादि भक्ति शास्त्रों में तो बार-बार कहा है, "इन्द्रियों की सत्त्वमूर्ति श्री हरि के प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति ही अहैतुकी भक्ति है, यह मुक्ति से भी बढ़ कर है।" "भगवान् की चरण सेवा में प्रीति रखने वाले भगवान् की ही प्रसन्नता के निमित्त समस्त कार्य करने वाले कितने ही बड़भागी भक्त, जो परस्पर में मिलकर प्रेम पूर्वक भगवत् पराक्रमों की चर्चा किया करते हैं, वे सायुज्य मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते।"

"जो निष्काम भक्त हैं उन्हें यदि भगवत् सेवा छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य पाँच प्रकार की मुक्ति भी दी जाय, तो वे मेरी सेवा छोड़कर मोक्ष को भी नहीं अपनाते।" इन सब वचनों में मुक्ति की अवहेलना की गयी है, मुक्ति के सम्मुख भक्ति को श्रेष्ठ बताया गया है।"

वास्तव मे ध्यान पूर्वक देखा जाय, तो इन वाक्यों में न तो कहीं मुक्ति की अवहेलना है और न उसकी निंदा ही है। इसमें केवल भक्ति मार्ग की प्रशंसा है। जैसे आज जो हमने दूध पिया उसके सम्मुख अमृत भी तुच्छ है। इस वाक्य मे अमृत को सर्वश्रेष्ठ स्वादिष्ट उपयोगी पेय तो मान ही लिया गया है, कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आज के दूध का स्वाद सर्वोत्तम था। इसी प्रकार जीव का चर्म लक्ष्य तो संसारी बंधनों से मुक्ति ही है। मुक्त हो जाने पर जीव को सबसे अधिक सुख मिलता है। उस सुख से भी बढ़कर सुख भक्त को भगवत् भक्ति में मिलता है। यह 'मुक्ति नहीं चाहते।' इस वचन का तात्पर्य इतना ही है, कि मुक्ति जो सर्वश्रेष्ठ अंतिम प्राप्य स्थिति है, भक्त को उससे भी अधिक आनन्द होता है। यही बात ज्ञान के सम्बन्ध मे है। ज्ञान एक सर्वोत्तम मार्ग है, अपने स्थान पर यह उत्कृष्ट है। भक्त के लिये भक्ति मार्ग सर्वोत्कृष्ट है। तीनों मार्गों का लक्ष्य एक ही है। अतः जो लोग गुणों की पदार्थों की संख्या करते हैं, जो संसार के समस्त पदार्थों को सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेदों में बाँटते रहते हैं, वे सांख्य मार्गावलम्बी ज्ञान को भी सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान और तामस ज्ञान इन तीन भेदो मे बताते हैं। ज्ञेय जो आत्मा है वह तो अभेद है उसमें तो सात्त्विक, राजस और तामस भेद संभव

ही नहीं। हाँ, उस ज्ञेय को जानने वाली जो वृत्ति-ज्ञान-है उसके भेदों को सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह की त्रिपुटियों के सात्त्विक राजस और तामस भेदों के संबन्ध मे प्रश्न किया, तो भगवान् ६ में से ज्ञान, कर्म और कर्ता इन तीनो के ही संक्षेप में त्रिविधि भेद बताते हुए कहने लगे—"अर्जुन! जिन कापिल दर्शन आदि शास्त्रो मे गुणों की संख्या की गयी है, उन शास्त्रो मे गुण भेद से ज्ञान, कर्म और कर्ता इन सबकी तीन-तीन संज्ञायें की गयी हैं। अर्थात् सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान और तामस ज्ञान। सात्त्विक कर्म राजस कर्म और तामस कर्म। सात्त्विक कर्ता, राजस कर्ता और तामस कर्ता। उन सबके लक्षण मैं तुम्हे सुनाता हूँ, तुम उन्हें मुझसे यथावत् श्रवण करो।"

अर्जुन ने कहा—"हाँ, महाराज! मैं इस विषय को आपके श्री मुखारविन्द से भली भाँति श्रवण करूँगा। कृपा करके पहिले आप मुझे सात्त्विक ज्ञान के ही सम्बन्ध मे सुनावें।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! अच्छी बात है पहिले तुम सात्त्विक ज्ञान के ही सम्बन्ध में सुनो। देखो, जिस वृत्ति द्वारा पुरुष समस्त उत्पन्न होने वाले चर, अचर, स्थावर जंगम भूतों में अव्यय अविभक्त आत्मा को भिन्न-भिन्न रूपों से एक ही देखता है वही ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है, ऐसा तुम जान लो।"

अर्जुन ने पूछा—"अव्यय क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो उत्पन्न होता है, उसमे कुछ न कुछ वृद्धि अथवा क्षय होता ही है। कितना भी भारी कोप क्यों न हो, उसमे से व्यय करते रहोगे, तो किसी न किसी दिन वह अवश्य चुक जायगा। उसमें से जितना निकालोगे, उतना वह न्यून हो

जायगा। किन्तु आत्मा इतना परिपूर्ण है, कि उसमें से आप भले ही पूर्ण निकाल लीजिये फिर भी परिपूर्ण ही अवशेष रह जायगा। उसमें से कभी व्यय होता ही नहीं। इसीलिये आत्मा अव्यय है। वह उत्पत्ति विनाशादि से रहित है समस्त मायिक विकारों से शून्य है। वह इन चर्म चक्षुओं से-बाह्य इन्द्रियों से-देखा नहीं जा सकता। इसलिये उसे व्यवहार में सकेत रूप से अव्यय कहते हैं। वास्तव मे तो वह संज्ञा शून्य है।"

अर्जुन ने पूछा—"अविभक्त किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"जो कहीं घटा हुआ न हो। ऐसा नहीं कि यहाँ है वहाँ नहीं है। वहाँ न्यून है, यहाँ अधिक है। वह सर्वत्र परिपूर्ण रूप से विद्यमान है। उसे प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी उपकरण की आवश्यक्ता नहीं। वह स्वयं प्रकाश, आनंद स्वरूप, परमार्थ सत्ता स्वरूप अविभक्त भाव से-समान रूप से व्याप्त है। जिस अन्तःकरण के परिणाम के द्वारा पुरुष सब में अव्यय भाव के ज्ञान द्वारा उसका साक्षात्कार करता है उस ज्ञान को तुम सात्त्विक ज्ञान जानो।" ऐसा ज्ञान यह जो दृश्य मिथ्या प्रपच है, उसका बाध करता है। यही यथार्थ ज्ञान है।

अर्जुन ने कहा—"सात्त्विक ज्ञान के सम्बन्ध मे तो मैने सुना, अब कृपा करके मुझे राजस और तामस ज्ञान के सम्बन्ध में और बतावें।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! वास्तव मे संसार के उच्छेद का कारण तो सात्त्विक ज्ञान ही है। राजस और तामस ज्ञान तो लौकिक ज्ञान हैं। फिर भी तुम पूछते हो तो प्रसंगानुसार तुम्हें राजस और तामस ज्ञान के लक्षण भी बताऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् जैसे राजस, तामस ज्ञान के लक्षण बतावेंगे उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पहिले सात्त्विक ज्ञान कहूँ अब तेरे पाहीं।
है जावें यह ज्ञान सबहिँ भूतनि के माहीं॥
अविनाशी समभाव रहै इस्थित सब घट में।
होवें भिन्न प्रतीत आतमा एक सबनि में॥
साख्य ज्ञान तैं पृथकता, मिटै होहि समभाव जब।
समुझो सात्त्विक ज्ञान यह ज्ञाता कूँ है जाय जब॥
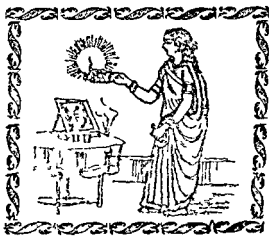
राजस और तामस ज्ञान

[१३]

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥*

(श्री० भग० गी० १८ अ० २१,२२ श्लो०)

छप्पय

अब तू राजस ज्ञान समुझिलै अपने मन में ।
राजस ज्ञानी भिन्न भाव देखै भूतनि में ॥
जितने भिन्न शरीर आतमा उतनी माने ।
आकृति और स्वभाव भेदतैं भिन्न बखाने ॥
ऐसो राजस ज्ञान है, अरजुन तू सब समुझिलै ।
नाम मात्र को ज्ञान यह, ज्ञाता राजस जानिलै ॥

---

* जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण भूतों मे पृथक्-पृथक अनेक भावों को पृथक् रूप मे जानता है, उस ज्ञान को राजस ज्ञान जानो ॥२१॥

और जो ज्ञान एक कार्य रूप शरीर मे ही पूर्णता के समान आसक्त है, वह अहैतुक तत्त्वार्थ से रहित अल्प ज्ञान है, उसे ही तामस ज्ञान कहते हैं ॥२२।

जगत् त्रिगुणात्मक है, तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो तीनों गुणों से रहित हो। इन तीनों गुणों में से सत्त्वगुण से ज्ञान होता है और ज्ञान से ही मुक्ति होती है। निरतिशय सुख तो मोक्ष ही है वह सुख सत्त्व से ही सभव है। सत्त्व बन्धन से मुक्त करता है, सत्त्व प्रधान भगवान् विष्णु हैं। सत्त्वगुण प्रधान मन में जो भाव उठते हैं, उन्हीं का नाम सात्त्विक भाव है। भक्तिमार्ग में भी जो भगवत भक्ति होने पर सर्वोत्कृष्ट (१) स्वेद, (२) स्तम्भ, (३) रोमाञ्च, (४) स्वर भग, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु और (८) प्रलय ये आठ भाव उठते हैं, उन्हें भी सात्त्विक भाव कहते हैं। इसलिये श्रीमद्-भगवत्गीता में त्रिगुणों में से सत्त्वगुण की सर्वत्र प्रशसा की गयी है। सात्त्विक देव, सात्त्विक यज्ञ, सात्त्विक तप, सात्त्विकदान, सात्त्विक त्याग, सात्त्विक कर्म, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक धृति, सात्त्विक सुख, सात्त्विक आहार, सात्त्विक कर्ता तथा सात्त्विक ज्ञान इन सभी को सर्वश्रेष्ठ बताया है। इसलिये सत्त्वगुण ऊपर उठाने वाला ऊपर के लोकों को ले जाने वाला तथा ससार बधन से मुक्त करने वाला है, अतः श्रेयस्कामी को सदा सर्वदा सात्त्विक भावों का ही आश्रय लेना चाहिये। राजस और तामस भाव कैसे भी हों, ये बन्धन के हेतु हैं। रजोगुण कर्म में प्रवृत्त कराता है और कर्म बन्धन के कारण है। रजोगुण में एक बड़ा दोष है उससे लोभ की अभिवृद्धि होती है। यह भी वस्तु मेरी हो जाय यह भी मेरे अधीन हो जाय, यही भावना रजोगुण में होती है। रजोगुण तो काल पाकर सत्त्वगुण में परिवर्तित हो सकता है, किन्तु तमोगुण तो चौपट ही कर देता है, वह तो घोर अधकार में लेजाकर पटक देता है।

रजोगुण में कर्मारम्भ में प्रवृत्ति होती है। धैर्य का अभाव

रहता है, सत्कार का अभाव और परिग्रह करने की इच्छा। निरन्तर विषयों के उपभोग की उत्कट अभिलाषा और फल को सम्मुख रखकर कर्मों का अनुष्ठान करने की प्रवृत्ति हुआ करती है रजोगुण में सब से उत्कट अभिलाषा अत्यधिक ख्याति प्राप्त करने की हुआ करती है। हमारी बात न जाने पावे चाहे हमारी सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट हो जाय, अपनी बात रखने को सम्पूर्ण धन सम्पत्ति को रजोगुणी पुरुष स्वाहा कर देते हैं। दुर्योधन से पांडवों ने केवल निर्वाह के निमित्त पाँच ही गाँव तो माँगे थे, वे दुर्योधन के अधीन रहने को भी उद्यत थे। किन्तु अपनी बात रखने के लिये उसने लडाई करने को ११ अक्षोहिणी सेना इकट्ठी कर ली। भीष्म पिता जब शर शैया पर पड गये तब उन्होंने कहा था -"मुझ बूढे की बलि देकर भी अब तुम सब भाई सन्धि कर लो, हिल-मिलकर रहो। किन्तु दुर्योधन ने पितामह की बात नहीं मानी और तब तक लडता रहा जब तक ३ को छोडकर उसके समस्त सैनिक नष्ट नहीं हो गये। रजोगुण की प्रबलता का इससे बढकर दृष्टान्त और कहाँ मिलेगा ? राजसी पुरुषों की भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन गतियाँ होती हैं। जो उत्तम राजसी पुरुष होते हैं वे मरकर देव, उपदेव जैसे गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, अप्सरा आदि होते हैं। मध्यम राजसी पुरुष मरकर पृथ्वी के राजा, क्षत्रिय, वाद-विवाद के युद्ध में प्रमुख प्रवक्ता, राजाओं के पुरोहित होते हैं। और निकृष्ट राजसी पुरुष सिपाही, नट, मल्ल तथा जुआड़ी आदि हुआ करते हैं। इन सबकी कर्मों में अत्यन्त आसक्ति रहती है, ये लोग, धैर्य धारण नहीं कर सकते, अपने प्रण पर अडने वाले, संसारी भोगों को भोगने के इच्छुक तथा शारीरिक बल के अभिमानी होते हैं। इसीलिये भगवान् ने जहाँ गीता में राजस आहार, राजस कर्ता, राजस यज्ञ, राजस तप,

राजस दान, राजस त्याग, राजस कर्म, राजस बुद्धि, राजस धृति, राजस सुख और राजस ज्ञान आदि का वर्णन किया है, वहाँ इन्हीं कर्म, फलाशा तथा भोगादि प्रवृत्ति प्रधान रजो गुणी पुरुषों को बताया है।

तमोगुणी तो सबसे निकृष्ट है। तमोगुण मे निद्रा, आलस्य और प्रमाद की प्राधान्यता रहती है। कार्य करने की प्रवृत्ति न्यून होती है। सत्त्वगुणी और तमोगुणी दोनो ही देखने में निष्क्रिय एक से प्रतीत होते हैं, किन्तु सत्त्वगुण प्रधान पुरुष की ज्ञानालोक के कारण कर्मों मे प्रवृत्ति नहीं होती और तमोगुणी की आलस्य और प्रमाद के कारण प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिये तामसी पुरुष जो आहार, विहार, तप, यज्ञ, दान तथा ज्ञानादि सम्पादन करेगा, उन सब में निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा याचना की प्राधान्यता होगी। भगवान् का वार-बार सात्त्विक, राजस और तामस प्रकरणों पर बल देने का तात्पर्य यही है, कि सात्त्विक भावों का ही सेवन करना चाहिये राजस और तामस इनका त्याग करना चाहिये। राजस तामस यज्ञ यागों को छोडना चाहिये। जो काम राजस तामस प्रधान हो उनका भी परित्याग कर देना चाहिये। जैसे पुरोहिताई, याजन, देवता के द्वारा आजीविका करना, घर-घर से चंदा लगाकर ग्राम भर को यज्ञ कराना, भगवान् के सेवापराधो को करना, नामापराधों को करना, कुपात्र से प्रतिग्रह लेना, अभिचार कर्म करना कराना, पशुओं की जीव हिंसा करना, महापातक, पातक, उपपातकों को करना, लोभ, मोह, अहंकार, काम, क्रोध, मद आदि करना। इनके अतिरिक्त अति पाप, क्षुद्रपाप तथा अनुपाप आदि करना ये सभी राजस तथा तामस कार्य हैं। श्रेयस्कामी पुरुषों को इनसे सदा दूर रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने राजस और तामस ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे— "अर्जुन! जिस ज्ञान के द्वारा पुरुष जितने जीव हैं, उन सब में पृथक पृथक आत्मा को मानता है। अर्थात् हाथी की आत्मा पृथक् है, चींटी की आत्मा पृथक है। इसी प्रकार पशु, पक्षी, कीट, पतंग मनुष्य, यक्ष, राक्षस, देवता, गन्धर्व, गुह्यक चारण, भूत, प्रेत, पिशाच सभी की आत्मा को पृथक-पृथक मानकर उनमें नाना भावों की परि कल्पना करता है। भिन्न-भिन्न आकृति प्रकृति वाले जीवों में भिन्न-भिन्न आत्माओं का अनुभव करता है। उस ज्ञान को ही तू राजस ज्ञान समझ ले।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर भगवन्! तामस ज्ञान किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"तामस ज्ञान कोई ज्ञान नहीं, उसे तो अज्ञान ही कहना चाहिये। जिस ज्ञान के द्वारा शरीर को ही आत्मा समझकर–उसी को सर्वस्व मानकर उसी में परम आसक्त हो जाता है। शरीर के सुख को ही सुख मानता है, शरीर के दुख को ही दुख मानकर रोने लग जाता है। एक ही आत्मा सब में व्याप रहा है, इस सिद्धान्त को न मानकर शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त रहता है। वह समझता है मैंने इस शरीर में या कहीं भी जो आत्मा को मान लिया है, इससे परे कोई भी कहीं भी आत्मतत्त्व नहीं। ऐसी जो बिना युक्ति के– परमार्थ वस्तु के अवलम्ब से शून्य तुच्छ ज्ञान है, अल्पमत है वही तामस है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! ज्ञान की ही भाँति कर्म के भी आपने सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद बताये, कृपा करके उनके भी लक्षण मुझे समझा दें?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् अर्जुन के पूछने पर कर्मों के जैसे त्रिविध भेद बतायेंगे उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

अब जो तामस ज्ञान कहूँ लच्छन सुनु भारत।
प्रकृति कार्य जो देह आतमा ताकूँ मानत॥
वाहा में सब भाँति रहें आसक्त अज्ञ जन।
विना हेतु अति अल्प अरथ तैं रहित विलच्छन॥
ज्ञान नहीं अज्ञान है, फिरि हू तामस ज्ञान है।
तामस ज्ञानी तिनि कहे, यह उनको सम्मान है॥

त्रिविध कर्म

[१४]

नियत सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायास तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्ध क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते । *

(श्री भा० गी० १८ अ० २३, २४ २५ श्लो०)

छप्पय

करमनिके हू तीनि भेद जो प्रथम बताये ।
पहिले सात्त्विक करम सुनहु जो शास्त्रनि गाये ॥
नियत करम नित करै सग तैं रहित सतत है ।
तनिक नहीं आसक्ति राग अरु द्वेष रहित है ॥
करतापन अभिमान बिनु, फल की इच्छा बिनु करै ।
कह्यो करम सात्त्विक वही, ता करिकैं जग तैं तरै ॥

---

* जो कर्म कर्तव्य बुद्धि से आसक्ति रहित, फल की इच्छा बिना, बिना राग द्वेष के किया गया हो, उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥२३॥

और जो कर्म बहुत ही परिश्रम से किया गया हो तथा फल की

जिस प्रकार ज्ञान के तीन प्रकार बताये, उसी प्रकार कर्म के भी प्रकार समझने चाहिये। कर्म कहते किसे हैं? (यत् क्रियते तत्कर्मः) कर्ता द्वारा अन्य उपकरणों से जो किया जाय वही कर्म है। कर्म चार प्रकार से होते हैं (१) निर्वत्य, (२) विकार्य्य, (३) प्राप्य, (४) अनीप्सित। निर्वत्य—कर्म वह कहलाता है, जिसे करके कर्ता उस कर्म से निवृत्य हो जाय। जैसे माता पुत्र को जनती है। जनने के पश्चात् वह उस कर्म से निवृत्त होकर दूसरा कर्म करने लगती है। जैसे कुम्भकार घट को बनाता है। जो घड़ा बन गया, उस घड़ा के बन जाने पर उस कर्म से निवृत्त होकर कर्मान्तर मे लग जाता है। यह तो निवृत्य कर्म हुआ।

अब दूसरा कर्म है विकार्य्य। विकार्य्य—कर्म उसे कहते हैं जिसमें उस कर्म का रूपान्तर हो जाय या नष्ट हो जाय। वह विकार्य कर्म भी दो प्रकार का होता है एक तो वह जो अपनी प्रकृति से नष्ट ही हो जाय जैसे अग्नि काष्ठ को भस्म-सात करती है। यहाँ अग्नि ने काष्ठ रूप कर्म को जड़मूल से नाश ही कर दिया काष्ठ का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। इस कर्म को कहेंगे 'प्रकृति उच्छेदक, दूसरे में कर्म को जड़ मूल से नाश न करके उसमें परिवर्तन कर देता है, उसका नाम रूप बदल देता है। जैसे सुवर्णकार सुवर्ण को कुण्डल बनाता है। यहाँ कर्ता सुवर्णकार ने कर्मरूप जो सुवर्ण है उसे कुण्डल के रूप में केवल

इच्छा से, अहंकार युक्त कर्ता द्वारा किया गया हो, उसे राजस कर्म कहते हैं ॥२४॥

जो कर्म परिणाम, हानि हिंसा और अपने पौरुष को बिना विचारे केवल मोह से ही आरम्भ किया गया हो, वह तामस कर्म कहलाता है ॥२५॥

परिवर्तित कर दिया इसलिये कहेंगे "प्रकृति गुणान्तरधायक" इस प्रकार पहिला निवृर्त्य कर्म दूसरा विकार्य कर्म, विकार्य कर्म के भी 'प्रकृति उच्छेदक' और प्रकृति गुणान्तरधायक दो भेद हुए।

अब तीसरा कर्म है प्राप्य। प्राप्यकर्म—उसे कहते हैं जहाँ जाना हो वहाँ प्राप्त होते हुए फिर उस कर्म को करे। जैसे देवदत्त ग्राम को जाता है चन्द्रमा को देखता है। यहाँ देवदत्त जो कर्ता है वह चन्द्ररूप कर्म को ग्राम जाते-जाते देखता है।

इसी प्रकार चौथा कर्म है अनीप्सित। अनीप्सित कर्म—वह कर्म कहलाता है जो निन्दित वस्तु है उसका त्याग कर देना। जैसे विष्णुमित्र पाप को छोड़ता है। यहाँ विष्णुमित्र जो कर्ता है, उसे पाप कर्म अच्छा नहीं लगा इसीलिये उसने उस कर्म का परित्याग कर दिया।

कर्म सदा देह से, वाणी से तथा अन्तःकरण से किये जाते हैं। वे कर्म तीन प्रकार के होते हैं सात्त्विक कर्म, राजस कर्म और तामस कर्म अब उनके लक्षण श्रवण करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने ज्ञान की ही भाँति कर्म के भी सात्त्विक, राजस और तामस भेदो के लक्षण पूछे तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! कर्म भी तीन ही प्रकार के होते हैं, उनमें से पहले मैं तुम्हें सात्त्विक कर्मों के लक्षण बताता हूँ। देखो, जो कर्म फलेच्छा शून्य पुरुष द्वारा किया गया हो अर्थात् जिसे कर्तापने का अभिमान न हो, जो कर्म नियत हो सङ्ग रहित तथा राग द्वेष से रहित होकर किया गया हो, उसी कर्म को सात्त्विक कर्म कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"नियत किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"नियत कहते हैं संयमित को। कर्म पाँच प्रकार के होते हैं १-नित्य कर्म, २-नैमित्तिक कर्म, ३-प्रायश्चित्त

कर्म ४–काम्य कर्म और ५–निषिद्ध कर्म। इनमें से शास्त्र विधि से संयमित नित्य नैमित्तिक कर्म ही नियत कर्म हैं। अर्थात् शास्त्र ने जिन कर्मों को करने योग्य बताया है उन्हीं कर्मों को करे, काम्य और निषिद्ध जिन कर्मों का शास्त्र में निषेध है उन कर्मों को न करे।"

अर्जुन ने पूछा—"संग रहित का क्या तात्पर्य है।"

भगवान् ने कहा—"संग कहते हैं आसक्ति को अनुराग को। संग दोष से अच्छे-अच्छे योगारूढ़ पुरुष भी पतित हो जाते हैं, अतः कर्मों को आसक्ति पूर्वक न करे, केवल कर्तव्य समझकर करे। कर्मों में राग द्वेष नहीं होना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"राग द्वेष से रहित कर्म का क्या लक्षण है ?"

भगवान् ने कहा – "राग कहते हैं, रँगने को जिसके अनुराग में अन्तःकरण रँग जाता है तो प्रत्येक समय उसी की स्मृति हृदय पटल पर उभरी रहती है, उसी का चिन्तन होता रहता है। इसी प्रकार जिससे द्वेष हो जाता है, शत्रुता हो जाती है, वैर बँध जाता है, विरोध अथवा विद्वेष हो जाता है, वह भी सदा चित्त पर चढ़ा रहता है। जो अपने अनुकुल हो अपना अत्यन्त प्रिय हो, उसके प्रति राग हो जाता है और जो अपने प्रतिकूल हो अपनी प्रकृति के विरुद्ध हो, उससे द्वेष हो जाता है। राग और द्वेष दोनों ही वर्जनीय है, इसलिये किसी भी कर्म में न विशेष राग करे, न किसी से द्वेष ही करे। केवल यह हमारा कर्तव्य कर्म है यही समझ कर कर्म करने चाहिये तथा कर्मों को फल की इच्छा सम्मुख रख कर नहीं करना चाहिये। फलप्रेप्सु न होना चाहिये।"

अर्जुन ने कहा—"अफल प्रेप्सु किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्ता कर्म करने समय यह अभिलाषा मन में रखकर उस कर्म को करता है कि इस कर्म से हमें यह फल प्राप्त हो, तो वह फल प्रेप्सुराजस तामस कर्ता हैं, किन्तु जो कर्ता फल की इच्छा रखे बिना केवल कर्तव्य बुद्धि से ही जिस कर्म को करता है वह कर्म सात्त्विक कर्म कहा जाता है। कर्म तो कर्ता के अधीन होता है। जैसा कर्ता होगा उसका कर्म भी वैसा ही हो जायगा।"

अर्जुन ने कहा—"मैंने सात्त्विक कर्म का मर्म तो समझ लिया अब राजस कर्म कौन-सा होता है। कृपा करके इसे समझा दें।"

भगवान् ने कहा—"राजस कर्म राजस कर्ता द्वारा किया जाने वाला होता है। राजस कर्ता कर्म करने के पहिले उसके फल की इच्छा रखता है और अहंकार युक्त होकर कर्म करता है, उस कर्म के फल में अत्यन्त आसक्ति होने से वह पूरी शक्ति लगाकर अत्यन्त परिश्रम करता है, अतः जो कर्म फल की आशा से अहं-कार पूर्वक अत्यन्त श्रम साध्य हो, वही कर्म राजस कर्म है।"

अर्जुन ने पूछा—"अहङ्कार युक्त कर्म किसे कहते है ?"

भगवान ने कहा—अहंकार कहो अहङ्कृति कहो, गर्व, अभि-मान, मद ये सब अहंकार के ही वाचक हैं। मिथ्या नाशवान देह में अहंकार करके मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ, यह कर डालूँगा वह कर डालूँगा। ऐसी मिथ्या प्रतीति ही अहंकार मूलक है। उसी अहं-कार के प्रति कर्म में अत्यन्त आयास-परिश्रम-करना पड़ता है। यह सब रजोगुण के ही कारण होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुणी कर्म का क्या लक्षण है ?"

भगवान् ने कहा—"बिना परिणाम विचारे इस कर्म के करने से हमारा क्या क्षय होगा, क्या हानि होगी, इसका विचार बिना

किये, इस काम के करने से कितनी हिंसा होगी इसकी बिना चिन्ता किये, इस काम को करने की हम में सामर्थ्य है या नहीं इस बात का पूर्वापर विचार न करते हुए, जो कर्म अज्ञान के वशीभूत होकर आरम्भ कर दिया जाता है, उसी कर्म को तामस कर्म कहते हैं। मोह से आरम्भ किये हुए उस कर्म में अनुबन्ध क्षय, हिंसा और पौरुष इन चारों पर विचार नहीं किया जाता।"

अर्जुन ने पूछा—"अनुबन्ध क्या ?"

भगवान् ने कहा—'अनु कहते हैं पीछे को बन्ध कहते हैं बन्धन को अशुभ अकल्याण को। जिसमें यह विचार न किया जाय कि इस कर्म को करने से अन्त में क्या अशुभ होगा। इसी का नाम अनुबन्ध है।"

अर्जुन ने पूछा—"क्षय क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म करने के पहिले यह विचार न करे कि युद्धादि कर्म को करेंगे तो इसमें कितना धन व्यय होगा, कितने सैनिक हताहत होंगे, इन बातों को बिना विचारे अन्धाधुन्ध कर्म करना इसी का नाम क्षय है।"

अर्जुन ने कहा—"हिंसा और पौरुष को बिना देखे का तात्पर्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कार्य वही करना चाहिये जिसमें कम से कम-न्यून से न्यून-हिंसा हो। बिना हिंसा के तो कोई कार्य होता ही नहीं। फिर भी अपने पौरुष का-अपनी सामर्थ्य का-तथा जीव हिंसा का विचार करके ही कर्म आरम्भ करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते, ऐसे कर्ता का जो कर्म है वह तामस कर्म है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपने ज्ञान के तथा 'कर्म के तो सात्विक राजस और तामस भेद बता दिये। अब आप कृपा

करके कर्ता के भी तीन भेद और बता दें। त्रिविध कर्ताओं का लक्षण और समझा दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अर्जुन के पूछने पर भगवान् जैसे त्रिविध कर्ताओं के भेद बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

जाके लीये घोर परिश्रम नित नित करि हैं।
यह ला वह करि शोक मोह तैं पचि-पचि मरि हैं॥
विषय भोग की सतत लालसा मन के माहीं।
अहङ्कार के सहित नेंक हू ऋजुता नाहीं॥
राजस ऐसे करम हैं, करैं राजसिक पुरुष जिहि।
करैं कामना सहित नित, करिकें पावैं दुःख तिहि॥

सोचे समुझे बिना करें जो करम अज्ञ जन।
बिनु बिचार परिनाम कहैं अनुबन्ध विज्ञ जन॥
हानि न लाभ बिचार न हिंसा तनिक विचारें।
कितनी है सामर्थ्य जाइ चित में नहिँ धारें॥
मोह सहित आरम्भ करि, करें करम अज्ञानवश।
करम वही तामस कह्यो, करें तामसी जन विवश॥

त्रिविध कर्ता

[१५]

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० २६, २७, २८ श्लो०)

छप्पय

तीनि भाँति के कहे-शास्त्र में करता अरजुन ।
बरनन तिनिको करूँ दत्तचित ह्वै कें तू सुन ॥
जो आसक्ति न करें सगतैं रहित निरन्तर ।
अहंकार तैं युक्त न बानी बोलें नरबर ॥
धैर्य और उत्साह युत, सिद्धि असिद्धि बिकार नहिँ ।
सात्त्विक कर्ता कहहिँ तिनि, हरष शोक में सम रहहिँ ॥

---

* जो आसक्ति से रहित है, जो अहंकारी नहीं है, धैर्य और उत्साह से युक्त है और जो सिद्धि असिद्धि में निर्विकार रहने वाला है ऐसे को सात्त्विक कर्ता कहते हैं ॥२६॥

जो राग वाला है, कर्म फल का इच्छुक है, लोभी है, हिंसक स्वभाव

कर्म में कर्ता ही प्रधान कारण है, यदि कर्ता ही न हो, तो क्रिया करणादि किसी की कल्पना नहीं। कर्म न अच्छे हैं न बुरे। वह तो कर्ता के ही ऊपर अवलम्बित हैं। जैसा कर्ता होगा, उसका कर्म भी वैसा ही उसके स्वभावानुकूल होगा। जैसे भगवती उमादेवी हैं। देवी तो एक ही हैं उनकी पूजा विधि भी एक ही है, किन्तु सात्त्विक पूजक पूजा करेगा, तो वह सात्त्विक वलि फल पुष्प की देगा, उसके पूजा के समस्त संभार सात्त्विक होंगे, उसकी जितनी भी क्रियायें होंगी, वे सब सत्त्व सम्पन्न होंगी। इसी प्रकार यदि पूजक राजस है, तो वह बलिदान भी राजस देगा और उसकी पूजा के समस्त संभार तथा क्रियायें राजसी होंगी, उसके सभी ठाट-बाट राजस होंगे, तथा यदि कर्ता तामस हुआ तो उसके समस्त उपकरण वलि आदि तामस भावापन्न होंगे। कर्ता अपनी भावना के अनुसार ही कर्मों को सात्त्विक, राजस अथवा तामस बना लेता है। फल को देखकर ही उसके वृक्ष का अनुमान किया जाता है। अतः सर्वप्रथम कर्ता को देखना चाहिये। कर्ता के कर्मों को देखकर उसकी प्रकृति को समझा जा सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने त्रिविध कर्ता के संबन्ध मे प्रश्न किया" तो भगवान ने कहा —"अर्जुन ! ज्ञान तथा कर्मों की भाँति कर्ता भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के होते हैं, उनमें से तुम पहिले सात्त्विक कर्ता के लक्षण सुनो।

का है, अशुद्ध आचरण करने वाला है, और जो हर्ष शोक मे अनुलिप्त है। ऐसे व्यक्ति को राजस कर्ता कहते हैं ॥२७॥

जो अयुक्त है, शिक्षा दीक्षा से रहित है, अभिमानी तथा धूर्त है, जो दूसरो की आजीविका को हरण करने वाला है और विषादी, आलसी तथा दीर्घ सूत्री है। ऐसा व्यक्ति तामस कर्ता कहाता है ॥२८।

जो सङ्ग से मुक्त हो, अनहंवादी हो, धृति उत्साह से समन्वित हो और सिद्धि असिद्धि में निर्विकार रहने वाला हो उसी को सात्विक कर्ता कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"मुक्त सङ्ग क्या ?"

भगवान् ने कहा—"सङ्ग कहते हैं आसक्ति को। कर्मों में तो आसक्ति क्या है सदा कर्मों के फल में ही आसक्ति हुआ करती है, कि यदि हम ऐसा कर्म करेंगे, तो हमे इस कर्म का यह फल मिल जायगा। कर्मों के फल में आसक्त होकर कर्ता अत्यन्त प्रयास करता है। फल में आसक्ति न हो केवल धर्म समझकर कर्तव्य मानकर जो कर्म किया जाय तो कर्ता को उस कर्म में विशेष संग-आसक्ति-स्पृहा-कामना न होगी। ऐसे आसक्ति रहित कर्ता का नाम ही मुक्त संग है। क्योंकि वह अनहंवादी है।"

अर्जुन ने कहा—"अनहंवादी क्या ?"

भगवान् ने कहा—"मैं ही कर्ता हूँ" इसे अहंकार कहते हैं यह अहंकार जिसमें हो उसे अहंवादी कहते हैं। ऐसे अभिमान से शून्य जो कर्ता है, जो बात-बात में अहंकार युक्त-दर्प युक्त-वचन नहीं बोलता है, जो अपने आप अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं करता, अपने पुरुषार्थ की स्वयं प्रशंसा नहीं करता अपने महान् पौरुष की जो डींग नहीं हाँकता, जो सरलता पूर्वक अभिमान शून्य होकर मधुर वचनों को बोलता है वही कर्ता अनहंवादी कहलाता है। क्योंकि वह धैर्य और उत्साह से युक्त रहता है।"

अर्जुन ने पूछा—"धृति और उत्साह से समन्वित का क्या अर्थ है ?"

भगवान् ने कहा—"धृति कहते हैं धैर्य को, और उत्साह कहते हैं निश्चयात्मिका बुद्धि से अपने उद्यम अथवा अध्यवसाय में लगे

रहने को। कुछ लोग विघ्नों के भय से कर्मों को आरम्भ ही नहीं करते वे नीच पुरुष हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो कर्म को आरम्भ तो कर देते हैं, किन्तु विघ्न आने पर विघ्नों के भय से हतोत्साह होकर आरम्भ किये हुए कर्म का परित्याग कर देते हैं, वे मध्यम पुरुष हैं और जो कर्तव्य कर्म समझ कर धर्म भाव से आरम्भ किये हुए कर्म को धैर्य और उत्साह पूर्वक करते ही रहते हैं। वे ही कर्ता धृति और उत्साह से समन्वित कहलाते हे। क्योंकि वे सिद्धि असिद्धि मे सम होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"सिद्धि असिद्धि मे निर्विकार रहने का तात्पर्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म करने मे अहङ्कृति भाव हो, उस कर्म के फल मे अत्यन्त ममता तथा आसक्ति हो और उस कर्म से इन्द्रियों को तृप्त करने की अभिलाषा हो, तो उसकी सिद्धि मे हर्ष होता हे और उस कर्म की सिद्धि न होने पर मन में विषाद होता हे। ऐसा क्यों होता हे ? आसक्ति, अहकार होने के कारण तथा धृति और उत्साह की कमी के कारण। जिसकी फल मे आसक्ति ही नहीं जो फल की इच्छा से कर्म कर ही नहीं रहा है, अपना धर्म समझकर कर्तव्य कर्म को कर रहा हे, तो उसके लिये सिद्धि तथा असिद्धि दोनों ही बराबर हैं। उसे कर्म के फल में कोई राग नहीं आसक्ति नहीं विशेष स्पृहा नहीं। वह फल प्राप्ति के लिये नहीं शास्त्र की आज्ञा को प्रमाण मानकर कर्म करता हे। कर्म की सिद्धि हो जाने पर जिसे अत्यन्त हर्ष नहीं होता, असिद्धि होने पर शोक या विषाद के कारण उसका मुख मलिन नहीं होता विषाद के कारण अन्तःकरण से दुःखी नहीं होता। जिसके अन्त.करण के भाव दोनों ही दशाओं मे निर्विकार बने रहते हैं ऐसे ही कर्ता को 'सिद्धि और असिद्धि मे निर्विकार कर्ता' कहते हैं।

अतः मुक्तसंगता, अनहंवादिता, धृति और उत्साह समन्विता सिद्धि असिद्धि में निर्विकारता ये भाव जिसमें हों वही सात्त्विक कर्ता कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"राजस कर्ता के क्या लक्षण हैं ?"

भगवान ने कहा—"जो कर्ता रागी हो, फल प्रेप्सु हो, हिंसात्मक हो, अशुचि हो और हर्ष तथा शोक से समन्वित हो वह कर्ता राजस कर्ता कहा जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"रागी क्या ?"

भगवान् ने कहा—"रागी उसे कहते हैं जिसका अन्तःकरण कर्म के फल में अत्यन्त रँगा हुआ हो। इस कर्म को जब तक पूरा न कर लूँगा, इसमें जब तक सिद्धि प्राप्त न कर लूँगा तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी न मुझे सुख की नींद आवेगी न कोई भोग पदार्थ ही अच्छा लगेगा ऐसे कर्मफलासक्त पुरुष का ही नाम रागी है, जब तक उसे कर्म में सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक उसका चित्त अत्यन्त व्याकुल तथा उदविग्न बना रहता है क्योंकि वह कर्म फल प्रेप्सु है न ?"

अर्जुन ने पूछा—"कर्मफल प्रेप्सु किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म तो वह कर्म है ही जिसे वह करना चाहता है, फल वही है जिस फल की प्राप्ति लिये वह कर्म कर रहा है। प्रेप्सु कहते हैं इच्छा करने वाले को। जिसका चित्त निरन्तर कर्मों के फल की ही ओर लगा रहे वही कर्ता कर्म फल प्रेप्सु कहलाता है। वह स्वार्थ में सतत परायण रहता हैं क्योंकि वह लुब्धक है।"

अर्जुन ने पूछा—"लुब्धक किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो सदा दूसरों से वस्तुओं की आकांक्षा तो करता रहे, किन्तु अपने पास की वस्तु को व्यय न करे। उसे

ही लुब्धक, लुब्ध, लोभी, आकांक्षी, तृष्णक तथा गर्द्ध न कहते हैं। ऐसा व्यक्ति न्याय से अन्याय से सदा दूसरों के धन की इच्छा रखता है, चाहे जितना भी शुद्ध पवित्र धार्मिक कार्य हो अपने पास से एक दमडी भी व्यय न हो यही उसकी हार्दिक इच्छा बनी रहती है, ऐसे भाव वाले कर्ता को ही लुब्ध या लुब्धक कहते हैं। क्योंकि वह हिंसात्मक बुद्धि वाला होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"हिंसात्मक से तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"जो पुरुष दूसरो के प्राणों का दूसरों की वृत्ति का अपने अभिप्राय को प्रकट करके छेदन करता है, वह हिंसा करता है। ऐसी हिंसा करने का जिसका स्वभाव है वही हिंसात्मक कर्ता है। ऐसा व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिये-अपनी सुख सुविधा के लिये-दूसरों को कष्ट की तनिक भी चिन्ता नहीं करता क्योंकि वह अशुचि है।

अर्जुन ने पूछा—"अशुचि किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"देख, यह शुचि है यह अशुचि है यह विषय तर्क का नहीं, शास्त्र की आज्ञा पर निर्भर करता है। गौ का मूत्र क्यों शुचि है सिंह का या गज का मूत्र क्यों शुचि नहीं। इसका उत्तर शास्त्र ही दे सकता है। अतः जो शास्त्र में कहे हुए आचार पर श्रद्धा रखने वाला है वही शुचि है। इसके विपरीत जो शास्त्रोक्त आचार से रहित है वही अशुचि है। क्योंकि वह हर्ष और शोक से समन्वित रहता है।"

अर्जुन ने पूछा—"हर्षशोकसमन्वित का क्या तात्पर्य है ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सात्त्विक कर्ता के लक्षणों में बताया कि वह सिद्धि असिद्धि में निर्विकार बना रहता है। उसके सर्वथा विपरीत यह सिद्धि में हर्ष के कारण अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है हर्ष में फूलकर कुप्पा हो जाता है असिद्धि में शोकान्वित होकर

रोने लगता है यही राजस कर्ता के लक्षण हैं। अतः जो कर्मों के फलों मे राग करने वाला, कर्म फलों में आसक्त, लुब्धक, हिंसा-परायण, अपवित्र तथा सिद्धि असिद्धि में हर्ष शोक समन्वित कर्ता है वही राजस कर्ता है।"

अर्जुन ने कहा—"अब कृपा करके तामस कर्ता के लक्षण और बता दें।"

भगवान ने कहा—"जो अयुक्त हो, प्राकृत हो, स्तब्ध हो, शठ हो, नेष्कृतिक हो, आलसी हो, विषादी हो और दीर्घ सूत्री हो वही तामस कर्ता कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"अयुक्त क्या ?"

भगवान् ने कहा—"अयुक्त कहते हैं असावधान को जो भ्रम-वश प्रमादवश कर्मों मे असावधान रहे। कारण कि उसका चित्त तो सदा सर्वदा विषयों में ही आसक्त रहता है। अतः उसे अपने धर्म का कर्तव्य कर्म का–ध्यान नहीं रहता। क्योकि वह प्राकृत है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्राकृत किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"देखो, जन्मते समय सभी जीव नगे ही पेदा होते हैं। सस्कारों से सस्कृत करके मनुष्य को सुसस्कृत बनाया जाता है। पशु पक्षियो के सस्कार नहीं होते। वे जेसे पेदा होते हैं वैसे ही प्राकृत स्वभाव वाले बने रहते हैं। छोटे बच्चे भी बुद्धि के परिपक्व हो जाने तक प्राकृत ही बने रहते हैं। जो कर्ता शास्त्र सस्कारों से शून्य हो, जो प्रवृत्ति निवृत्ति में समान स्वभाव वाला हो, जो शौच अशौच तथा आचार विचार और सत्य असत्य से हीन हो वही प्राकृत कर्ता कहलाता है। क्योंकि वह स्तब्ध है।"

अर्जुन ने पूछा—"स्तब्ध क्या ?"

भगवान् ने कहा—"स्तब्ध कहते हैं जड को स्तम्भित बना

रहे। गुरुजन आवें बडे लोग आवें उन्हे खडे होकर अभ्युत्थान न दे। देव मन्दिरों मे देवता की प्रतिमा के सम्मुख जो नम्र न हो ऐसे विनम्र न होने वाले कर्ता को स्तब्ध कहते हैं क्योकि वह शठ हैं।"

अर्जुन ने कहा - "शठ किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"जो सम्मुख तो मधुर वचन बोले और पीठ पीछे बुराई करे। जो दूसरो के अपराधो को चेष्टाओं को दूसरों के सम्मुख कलुषित भाव से व्यक्त करे उसो का नाम शठ है। कूट कल्क, छल, छद्म, शठता तथा कपट आदि ये सब शठ कर्म हैं। पुरुषों के ठगने के हेतु यथार्थ वात को जानते हुए भी उसे अन्य ही प्रकार से व्यक्त करे उसी का नाम शठ है। वह अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त शठता करता है, क्योकि वह नष्कृतिक है।"

अर्जुन ने पूछा—"नष्कृतिक क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो पुरुप अपने अभिप्राय को प्रकट कर के दूसरों की वृत्ति का छेदन करता है वह तो हिंसक है किन्तु अपने अभिप्राय को विना प्रक्ट किये चुपके चुपके दूसरो की वृत्ति का छेदन करता है, उस धुन्ना सर्प के स्वभाव वाले नीच पुरुप को नेष्कृतिक कहते हैं। यह अधम पुरुप पहिले तो लोगों पर परोपकारी होने का विश्वास उत्पन्न कर लेता है। लोग भ्रम में पड जाते हैं उसे अच्छा समझने लगते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर वह कतरनी चलाता रहता है। दूसरों के अनिष्ट करने का उपाय करता रहता है, दूसरों की आजीविका का, प्रतिष्ठा का हनन करता है और अपने स्वार्थ को सिद्ध करता रहता है ऐसा पुरुप ही नेष्कृतिक कहलाता है। वह स्वय अपने पुरुषार्थ से तो कुछ करता नहीं। इधर की इधर भिडाकर स्वार्थ सिद्धि में तत्पर रहता है, क्योंकि वह स्वभाव से आलसी होता है।

अर्जुन ने पूछा—"आलसी किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अलस शब्द लस धातु से बना है। जो आलस्य युक्त हो वही आलसी कहलाता है। जो कर्तव्य कर्मों में प्रमाद करता हो, जो प्रवृत्त कर्मों मे प्रवृत्त न होता हो। जो साहस हीन होने के कारण दैव-दैव चिल्लाता रहता हो वही आलसी कर्ता होता है क्योंकि वह विषादी होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"विषादी क्या ?"

भगवान् ने कहा—"इन विषयों से संसार में कोई संतुष्ट तो हो ही नहीं सकता। जितनी ही विषयोपभोग की सामग्रियाँ मिलती जाती हैं उतना ही असन्तोष बढ़ता जाता है, लोभ की वृत्ति दिन दूनी रात्रि चौगुनी चौड़ी होती जाती हैं। सर्वथा असन्तुष्ट रहने के कारण वह सोचता रहता है—हाय! मैंने अमुक काम वैसे नहीं कर दिया, वैसे करता तो मुझे अवश्य सिद्धि प्राप्त हो जाती। इस प्रकार निरन्तर अपने कामों के प्रति पश्चात्ताप करते रहने के कारण उसके मन मे सदा विषाद खेद बना रहता है। वह अव-साद शठता मूर्खता के कारण खिन्न चित्त रहता है क्योंकि वह दीर्घ सूत्री है।"

अर्जुन ने पूछा—"दीर्घसूत्री किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जिसके चित्त मे अपने किये हुए कार्यों के प्रति सन्तोष नहीं होता उसका चित्त सदा चिंतित खिन्न विषाद युक्त बना रहता है। इस कारण उसके मन में सदा सर्वदा सहस्रों शकायें उठती रहती हैं। वह सोचता रहता है इस काम को यदि मैं ऐसे करूँगा, तो इसमें इतने विघ्न आ जायँगे। अमुक मेरे काम में रोड़ा अटकावेगा। इन बातों को सोचकर वह जो आवश्यक कार्य आज ही कर डालना चाहिये था। उसमें वर्षों लगा देता है। इतने दिन सोच विचार के पश्चात् भी वह कर सकेगा या

नहीं इसमे भी शंका ही बनी रहती है। अतः तत्काल करने योग्य कर्तव्य कर्मों के करने में जो देरी लगा देता है वही दीर्घ सूत्री कहलाता है। इस प्रकार अयुक्त, प्राकृत, स्तब्ध, शठ, नेष्कृति, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कर्ता कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! आपने ज्ञान, कर्म और कर्ता के तो तीन-तीन भेद बताये अब बुद्धि और धृति जिनका उल्लेख आपने बार-बार किया है, उनके त्रिविध भेद और बता दीजिये। और फिर सुख के भी तीन भेद बताकर इस सांख्ययोग प्रकरण को समाप्त करके मुझे कर्म योग अर्थात् वर्णाश्रम धर्म योग फिर भक्ति योग का रहस्य समझा दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवन् अर्जुन के पूछने पर बुद्धि और धृति के जैसे भेद बतावेंगे, उस प्रसङ्ग को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

जाके मन आसक्ति करम फल चाहन वारो।
करम कामना सहित करैं मन भारो-भारो॥
सिद्धि होहि मम स्वार्थ कष्ट औरनि को होवै।
हरष शोक में लिप्त निरखि प्रतिकूलहिँ रोवै॥
अशुचि स्वार्थ में रत रहैं, कर्ता राजस मानियो।
लच्छण सबरे समुझिकें, तुरत तिनहिँ पहिचानियो॥

मन इन्द्रिय वश नहीं कहावै सो अयुक्त नर।
शिक्षा दीक्षा रहित घमंडी अति ही दुस्तर॥
करै धूर्तता नित्य धूर्त जनता बतलावै।
करै जीविका हरन सबनि की शठ कहलावै॥
परम विषादी आलसी, अधिक देर सोवत रहत।
तामस करता अधम अति, विज्ञ तामसी तिहि कहत॥

सात्त्विकी बुद्धि

[१६]

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ! ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥❀

(श्री भ० गी० १८ अ० २९, ३० श्लो०)

छप्पय

बुद्धि और धृति कहीं त्रिविध गुन हेतु राजसी।
जैसे सबके भेद सात्त्विकी और तामसी॥
प्रथम बुद्धि के भेद धनञ्जय ! तोइ सुनाऊँ।
धृति हू तीनि प्रकार बुद्धि कहि फिरि समुझाऊँ॥
बुद्धि और धृति के सकल, गुन विभाग निज धी करहु।
कहूँ भेद निःशेष सब, सावधान ह्वै के सुनहु।

❀ हे धनञ्जय ! बुद्धि तथा धृति के भी गुणों के कारण तीन भेद हैं। उन्हें पृथक्-पृथक् अशेष रूप में तुम्हारे प्रति कहता हूँ॥२९।

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्य अकार्य भय अभय, बन्ध तथा मोक्ष उन्हें भली भाँति जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है॥३०॥

सांख्य मार्ग या ज्ञान मार्ग बाहरी कर्मों को महत्त्व नहीं देता वह तो कर्ममात्र को बन्धन का कारण मानता है। बाहरी कर्मों से जब भी निवृत्त हो सकते, तभी उनसे निवृत्त हो जाय। वह तो विचार, विवेक, वैराग्य तथा ज्ञान और मनन का पक्षपाती है। यह जो भी कुछ प्रकृति का पसारा प्रतीत हो रहा है, सब अज्ञान का कार्य है, यह अज्ञान कैसे निवृत्त हो? तत्त्वज्ञान से। तत्त्व क्या है? इसी का विचार करे। पहिले मन का विचार करे। यह मन इधर-उधर क्यों भटकता रहता है, सदा चञ्चल क्यों बना रहता है, इसलिये कि मन में काम के संकल्प विकल्प उठते रहते हैं। संकल्प विकल्पात्मक ही मन है। फिर इसकी दो वृत्ति और हैं संशय और निश्चय। यह काम करें या न करें। इसके करने से लाभ होगा या हानि यही संशय वृत्ति है। निश्चय वृत्ति वह है जिसमें मन यह दृढ़ निश्चय कर लेता है, कि यह कार्य करना ही चाहिये। इस काम को अवश्यमेव त्याग ही देना चाहिये। जो संशय वाली वृत्ति थी उसका नाम विचिकित्सा है और जो निश्चय वाली वृत्ति है उसका नाम बुद्धि है।

मन की एक और भी वृत्ति है, किसी को देखकर तो मन उस पर लट्टू हो जाता है और किसी को देखकर घृणा करने लगता है। जिस वृत्ति से किसी का आदर सत्कार करने लगता है, उस पर लट्टू होकर-मुग्ध होकर-उसकी सेवा सत्कार करने लगता है उसे श्रद्धा कहते हैं और जिस वृत्ति से घृणा करने लगता है। उसे अश्रद्धा कहते हैं।

मन की जो वृत्ति किसी वस्तु विशेष को धारण करती है उसे धृति कहते हैं, इसके विपरीत जिसे धारण नहीं करती उस वृत्ति विशेष का नाम अधृति है।

किसी से अपने अनिष्ट की सम्भावना हो, अथवा जिस

वस्तु मे अपना अनुराग है, उसके विनष्ट हो जाने की आशंका हो, जिस आशका से मन मे एक प्रकार की शंका हो जाती है और उसके निवारण मे अपने को असमर्थ अनुभव करने पर मन मे जो भीति होती है, उसे ही भय कहते हैं। भय निवृत्त हो जाने पर मन मे जो एक प्रकार तुष्टि अनुभव होने लगती है उसी वृत्ति को अभय कहते हैं।

जो कर्म अकर्तव्य है उसे करने में जो एक प्रकार का भय होता है उसे लज्जा कहते हैं, जो अकर्तव्य कर्मों को भी सब के सामने करने लगता है उसमें संकोच नहीं करता उसे निर्लज्ज कहते है।

ये सब वृत्तियाँ मन की ही हैं। मन ही विविध रूपों मे वृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न नाम वाला हो जाता है। अतः श्रुति मे कहा गया है (कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्री र्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव) काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन के ही रूप है। इन सब वृत्तियों मे बुद्धि और धृति (धैर्य) की ही प्रधानता हैं। अतः इन दो के ही त्रिविध भेद बताकर छोड दिया है कि इसी प्रकार सभी वृत्तियो के भेद समझ लेने चाहिये। स्थालीपुलाकन्याय से।

मन की निश्चयात्मिका वृत्ति का नाम ही बुद्धि है। संस्कृत साहित्य मे यह बुद्धि अनेक नामो से व्यवहृत होती है। बुद्धि, मनीषा, धिषणा, धी, प्रज्ञा, शेमुषी, मति, प्रेक्षा, उपलब्धि, चित्, सम्वित्, प्रतिपत् ज्ञप्ति, चेतना, धारणा, प्रतिपत्ति, मेधा, मनन, मन, ज्ञान, बोध, हृल्लेख, मरया, प्रतिभा, आत्मजा, पण्डा तथा विज्ञान ये सब प्रायः बुद्धि के ही पर्यायवाची शब्द हैं। बुद्धि का काम है किसी भी बात का विवेचन करना। वह बुद्धि आधिभौतिक

आधिदैविक और अध्यात्म रूप से तीन प्रकार की होती है। जो इन्द्रियों और मन के विषय मे विचार करती है वह अध्यात्म बुद्धि है। आधिदैविक बुद्धि के अधिष्ठातृ देव ब्रह्माजी प्रसिद्ध ही हैं। उसी को महत्तत्त्व भी कहते हैं। संसार की वस्तुओं के प्रति जो मान्यता है मन्तव्य है वही आधिभौतिक बुद्धि है। यह बुद्धि सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन ने जब भगवान् से कर्म प्रेरणा, कर्म संग्रह में से ज्ञान, कर्म तथा कर्ता के भेद सुनकर बुद्धि तथा धृति के भेदों के सम्बन्ध मे जिज्ञासा की तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! तुमने मुझसे बुद्धि और धृति के सम्बन्ध में जो जिज्ञासा की अब तुम उस बुद्धि और धृति के भी सम्बन्ध मे सुनो। इन दोनों के भी सात्त्विक, राजस और तामस गुणों के अनुसार तीन तीन भेद होते हैं। उन्हे मैं तुमसे क्रमशः विभाग-पूर्वक कहूँगा इस विषय को तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

अर्जुन ने कहा—"बुद्धि ही तो प्रधान वृत्ति है, उसके अनंतर धृति तदनन्तर सुख। इन तीनों के ही सम्बन्ध मे मैं क्रमशः सुनना चाहता हूँ। आप जो अपने श्री मुख से कहेंगे, मैं अवश्य ही दत्त-चित्त होकर सावधानी के साथ सुनूँगा। पहिले आप मुझे सात्त्विकी बुद्धि के ही सम्बन्ध मे बतावें।

भगवान् ने कहा—"देखो पहिले मैं तुम्हे सात्त्विकी बुद्धि के सम्बन्ध मे बताता हूँ, जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कार्य और अकार्य को, भय और अभय को तथा बन्ध और मोक्ष को भली भाँति जानती हो वही बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रवृत्ति और निवृत्ति किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"कर्मों मे प्रवृत्त होने का नाम प्रवृत्ति है, कर्मों से निवृत्त होने का नाम निवृत्ति है। सदा से दो मार्ग चले

आये हैं एक तो अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के कर्मों में अधिकारानुसार प्रवृत्त होना ही चाहिये, उन कर्मों को आवश्यक कर्तव्य समझकर करते ही रहना चाहिये कर्म करते-करते ही नेष्कर्मता मुक्ति को प्राप्त करना इसे तो प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं।"

दूसरा निवृत्ति मार्ग है। उसमें कर्मों की कर्तव्यता पर बल नहीं दिया जाता। यही नहीं समस्त कर्मों को बन्धन का कारण दोषयुक्त मानकर उनसे शीघ्र से शीघ्र छूटकर श्रवण, मनन निदिध्यासन द्वारा ज्ञान लाभ करके मुक्ति प्राप्त करना इसे निवृत्ति मार्ग कहते हैं। एक प्रवृत्ति पूर्वक निवृत्ति मार्ग मध्यम मार्ग तीसरा मार्ग है जिसे निष्काम कर्म योग मार्ग या भक्ति मार्ग कहते हैं। उसका उल्लेख आगे होगा। यहाँ तो प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ही मार्गों का मैंने अर्थ बताया। क्योंकि प्रवृत्ति निवृत्ति का बोध हो जाने पर यह जाना जा सकता है कौन सा कर्म कार्य है कोन सा अकार्य। कार्याकार्य का निर्णय भी सात्त्विकी बुद्धि द्वारा ही होता है।

अर्जुन ने पूछा—"कार्याकार्य किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो किया जाय उसे कार्य कहते हैं (क्रियाते यत् तत् कार्यम्) जो कर्तव्य समझकर किया जाय उसे कार्य कहते हैं। जो कर्तव्य समझकर त्यागा जाय उसे अकार्य कहते हैं। अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार श्रद्धा पूर्वक कर्मों को करते रहना यह कार्य है। कर्मों को बन्धन का कारण मानकर उन्हें अकार्य समझकर— कर्मों का न्यास करके त्यागी हो जाना सन्यास धारण कर लेना यह कर्मों से निवृत्त हो जाना अकार्य है। क्योंकि ये कर्म अभय करने वाले भी हैं और भयप्रद भी हैं। इसीलिये भयाभय हैं। कौन भयप्रद कर्म हैं कौन अभयप्रद कर्म हैं इन्हें सात्त्विकी बुद्धि ही जान सकती है।

अर्जुन ने पूछा—"भयाभय कर्म क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्म संसार की प्राप्ति के निमित्त। इस लोक के लौकिक तथा परलोकिक के दिव्य सुखो की प्राप्ति के निमित्त किये जाते हैं वे कर्म भयप्रद हैं और मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से किये जाने वाले कर्म अभय देने वाले कर्म हैं। कौन से कर्मो से भय होगा कौन से कर्म अभय प्रदान कर देंगे। इसे सात्त्विकी बुद्धि ही जानती है, क्योंकि वही यह निर्णय करने में समर्थ है, कि कौन से कर्म बन्धन कारक हैं कौन से मोक्षप्रद हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"बन्ध क्या ? मोक्ष क्या ?"

भगवान् ने कहा—"अहकार पूर्वक अपने को कर्ता मानकर लौकिक पारलौकिक सुखो की इच्छा से किये जाने वाले कर्म बन्ध प्रद हैं उनके करने से ससार मे बन्धन होता है। जो कर्म मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से निष्काम भाव से किये जाते हैं वे मोक्ष के हेतु होते हैं। इसलिये जो बुद्धि प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्याकार्य, भया-भय और बन्ध मोक्ष को भली भाँति जानती हो वही बुद्धि सात्त्वि-की बुद्धि है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! सात्त्विकी बुद्धि का लक्षण तो मैंने समझ लिया, अब कृपा करके राजसी और तामसी बुद्धि के सम्बन्ध में मुझे और बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् जैसे राजसी और तामसी बुद्धि के सम्बन्ध मे बतावेंगे, उसका वर्णन मैं आपसे आगे करूँगा, आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जाने प्रवृत्ति निवृत्ति पार्थ ! सुनि बुद्धि सात्त्विकी ।
निज स्वभाव अनुसार त्रिविध हैं बुद्धि सबनि की ॥
जो हैं सत्त्व प्रधान सात्त्विकी पुरुष कहावैं ।
लच्छन तिनिके कहूँ वेदविद तिनहिँ बतावैं ॥
यह करतव करतव नहीं, भय अरु अभय विचार की ।
बन्ध मोक्ष सामर्थ्य जिहि, वही बुद्धि है सात्त्विकी ॥

राजसी और तामसी बुद्धि

[१७]

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥*
(श्री० भ० गी० १८ अ० ३१, ३२ श्लो०)

छप्पय

लक्षण अब जो बुद्धि राजसी ताहि बताऊँ।
पुरुष राजसिनि माहिँ रहै अरजुन! समुझाऊँ॥
जो कछु मैं करि रह्यो ताहि अधरम नहीं मानें।
अथवा जिह है धरम जथारथ मरम न जानें॥
कौन काज करतव्य है, काहि अकरतव हू कहत।
वही राजसी बुद्धि है, राजस जन में नित रहत॥

---

* हे पार्थ! जिस बुद्धि से धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य यथावत् नहीं जाना जाता, वह बुद्धि राजसी है॥३१॥

हे पार्थ! तमोगुण से ढकी हुई जो बुद्धि धर्म को अधर्म मानती है तथा सभी अर्थों को विपरीत ही समझती है, वह तामसी बुद्धि है॥३२॥

इस जगत को धर्म ही धारण किये हुए हैं। अथवा पुण्यात्मा पुरुष जिसे धारण करते हैं। उसी को धर्म कहते हैं। (धारति लोकान ध्रियते पुण्यात्मभिः इति) धर्म शब्द पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृप, न्याय, स्वभाव, आचार, उपमा क्रतु इन नामों से भी व्यवहृत होता है। पुराणों में धर्म के सम्बन्ध की अनेकों कथायें हैं। ये ब्रह्माजी के दक्षिण स्तन से उत्पन्न हुए हैं। दक्ष प्रजापति की तेरह कन्याओं का विवाह धर्म के साथ हुआ था। उनके नाम मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, मूर्ति, तितिक्षा और ही हैं। कहीं-कहीं इनके नामों मे मतभेद भी है। ऊपर जो नाम दिये हैं वे तो हमने श्रीमद्भागवत के अनुसार दिये हैं। वहाँ इनकी सन्तानों का वर्णन इस प्रकार है। मैत्री का पुत्र प्रसाद, दया का अभय, शान्ति का सुख, तुष्टि का मुद, पुष्टि का गर्व, क्रिया का योग, उन्नति का दर्प, बुद्धि का अर्थ, मेधा की स्मृति पुत्री। मूर्ति से नर और नारायण, तितिक्षा का क्षेम, ही की पुत्री संज्ञा। कहीं पर श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि तथा कीर्ति ये तेरह बतायी हैं। इनकी सन्तानो मे भी कुछ भेद हैं जैसे श्रद्धा का पुत्र काम, लक्ष्मी का दर्प, धृति का नियम, तुष्टि का पुत्र सन्तोष, पुष्टि का लोभ, मेधा का श्रुत, क्रिया का दण्ड, विनय का नय, बुद्धि का बोध, लज्जा का विनय, वपु का व्यवसाय, शान्ति का क्षेम, सिद्धि का सुख, कीर्ति का यश। कल्प भेद से ये भेद होते होगे।

वाराह पुराण में धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि जब ब्रह्माजी ने समस्त प्रजाओं की सृष्टि करने का विचार किया, तो उनके मन मे यह बात आयी कि मैं जिस सृष्टि को बनाऊँगा उसका पालन किस आधार पर होगा। उनके इतना विचारते ही उनके दक्षिण स्तन से एक पुरुष उत्पन्न हो गया। वह परम दिव्य

पुरुष था, वह श्वेत माला धारण किये हुए था, सम्पूर्ण शरीर में चन्दन का अनुलेप किये हुए था उसे देखकर भगवान् ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा तुम्हारा नाम धर्म होगा। तुम सत्ययुग मे चार पैर वाले, त्रेता मे तीन पैर वाले, द्वापर में दो पैर वाले और कलि-युग में एक पैर वाले होकर प्रजा का पालन करोगे। तुम ब्राह्मणों के घर में ६ प्रकार से, क्षत्रियों में ३ प्रकार से, वैश्यो मे दो प्रकार से और शूद्रों मे एक प्रकार से रहोगे। शूद्रो का एक मात्र धर्म सेवा है, वैश्यो का यज्ञ दान है, क्षत्रियों का अध्ययन, यज्ञ दान है। ब्रह्मणो का अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, याजन, दान देना, दान लेना ये ६ धर्म हैं।

गुण, द्रव्य, क्रिया और जाति ये चार पैर हैं। स्मृति, वेद, पदक्रम सहित सहिता भाग ये तीन शृङ्ग हैं। मन्त्र के आदि अन्त में जो ओकार है वे ही धर्म, दो सिर है। सप्तव्याहृतियाँ सप्त हस्त है। उदात्त, अनुदात्त और प्लुत इन तीनो रस्सियों से बँधा हुआ धर्म व्यवस्थित रहता है। त्रयोदशी तिथि के दिन धर्म उत्पन्न हुआ था, अतः जो त्रयोदशी तिथि धर्म तिथि है, उस दिन जो उपवास करता है, वह अधर्म से छूटकर धर्म को प्राप्त करता है।

पद्मपुराण में धर्म के दश अंग बताये हैं। उनके नाम ब्रह्मचर्य, सत्य, तप, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेय ये हैं। तथा अद्रोह, अलोभ, दम, दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश क्षमा, धृति और तप ये धर्म के मूल हैं।

ब्रह्माजी ने धर्म को उत्पन्न किया, तब धर्म ने पूछा—"मैं रहूँ कहाँ पर?"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"तुम वैष्णवो के हृदय मे, सभी यतियों में, ब्रह्मचारियों मे, पतिव्रता स्त्रियो मे, बुद्धिमान पुरुषो मे, वानप्रस्थ और संन्यासियों मे, धर्मशील राजाओं मे, सज्जन पुरुषों

लोग मार धाड़ करके शस्त्रों द्वारा आजीविका चलाते हों, जो पैसा लेकर पुस्तकों की प्रतिलिपि किया करते हों, जहाँ देवता को घुमा-घुमाकर उस देवता के नाम से पैसा पैदा करते हो, जहाँ सम्पूर्ण गाँव से चन्दा इकट्ठा करके उसके द्वारा अविधि यजन होता हो, जहाँ बैलो को जोतकर किराये की गाडी चलाने वाले रहते हो, जहाँ सुनार तथा जीव हिसा करने वाले बहेलिये मत्स्य जीवी वास करते हो, जो स्त्री अपने पति की निरन्तर निन्दा करती रहती हो उसके समीप मे, जो पुरुप अपनी स्त्री का सदा क्रीतदास बना रहता हो, जहाँ दीक्षा हीन सन्ध्या से रहित तथा विष्णु भक्ति से विहीन द्विज निवास करते हो अपने अंग से उत्पन्न हुई कन्या को जो लोग बेचने वाले हो तथा जो अपनी स्त्री को वेच देते हो ऐसे पुरुपो के समीप, जो पुरुप शालग्राम, देव प्रतिमा, वेदादि ग्रन्थ तथा भूमि को वेचने वाले हो, जा मित्र द्रोही हों, कृतघ्न हो, जो सत्य का विश्वास दिलाकर पीछे विश्वासघात करने वाले हो, जो शरणागत को शरण न देने वाले हों, जो आश्रित पुरुप का वध करने वाले हों, जो सदा झूठी बातें बनाने वाले हो, जो गाँव तथा खेत की सीमा का अपहरण करने वाले हों, जो काम क्रोध तथा लोभ के वशीभूत होकर झूठी गवाही देने वाले हों, जो पुण्य कर्मों से विहीन हों तथा पुण्य कर्मों का विरोध करने वाले हों, तथा और भी जो धर्म निन्दक हो, हे धर्म ! उनके यहाँ तुम कभी भूल कर भी मत रहना। इन स्थानों में रहने का तुम्हें अधिकार नहीं है।"

श्रीमद्भागवत में जब विष्णुदूतों ने यमदूतो से धर्म का लक्षण पूछा, तब यमदूतो ने धर्म का लक्षण बताते हुए कहा था—"जिसे वेद ने कर्तव्य प्रतिपादन किया है वह तो धर्म तथा जिसे वेद ने अकर्तव्य बताया है वह अधर्म है। महाभारत में

अहिंसा लक्षण वाले को धर्म बताया है जिन कार्यों में हिंसा हो वह अधर्म है। वामन पुराण में जहाँ देव, असुर, राक्षसादि के धर्म बताये हैं, वहाँ मनुष्यों के स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यजन, उदारता, सरलता, दया, अहिंसा, क्षमा, जितेन्द्रिय रहना, शौच, मंगलमयी, भागवत भक्ति, शंकर में, सूर्य में तथा देवी आदि पंच देवों मे भक्ति ये सब मनुष्यों के भक्ति के धर्म बताये गये हैं।

किसी कल्प की कथा है, कि आरम्भ में धर्म एक रस रहने वाला था। एक बार पिप्पलाद मुनि की पत्नी नदी किनारे स्नान कर रही थी। वह अत्यन्त सुन्दरी थी। उसके सौन्दर्य के कारण धर्म के मन में कुछ विकार उत्पन्न हो गया। इस पर ऋषि पत्नी ने धर्म को शाप दिया—"धर्म! तुम मर्यादा के स्थापक माने जाते हो, फिर भी तुम अधर्म का आचरण करते हो। तुम चतुष्पाद हो। आज से तुम क्षयिष्णु हो जाओगे। प्रत्येक युग में तुम्हारा एक पाद क्षय हो जाया करेगा। सत्ययुग में चतुष्पाद, त्रेता में त्रिपाद, द्वापर में द्विपाद और कलियुग में तुम एक पाद वाले ही रह जाओगे। केवल सत्ययुग में ही तुम्हारे पूरे चार पाद रहा करेंगे।"

धर्म के चार पैर हैं—१-सत्य, २-दया, ३-शान्ति, और ४-अहिंसा। इन चारों में ही सम्पूर्ण धर्म की व्याख्या आ जाती है। इनमें से पहिले सत्य पर ही विचार करें।

१-सत्य—धर्म शास्त्रों में सत्य के बारह भेद बताये हैं। १-अभिभ्यावचन, अर्थात जो बात हमने जैसी देखी हो उसे वैसी ही बोलना, उसमें बनावटीपन न करना। २-स्वीकार प्रतिपालन—तुमने जिसे जो वचन दे दिया हो उसका भली भाँति प्रतिपालन करना। ३-प्रियवाक्य—बहुत से लोग कह देते हैं, किसी को भली लगे चाहें बुरी हम तो खरी बात कह देते हैं। यह सत्य

कहना पूर्ण सत्य नहीं है। बात सच्ची कहो किन्तु मधुर शब्दों मे कहो। यद्यपि सत्य हितकर शब्द प्रिय होना दुर्लभ है, किन्तु फिर भी यथाशक्ति मधुर वाणी मे प्रेम पूर्वक कहना चाहिये। ४–गुरु सेवा—गुरुओं की सेवा भी सत्य के अन्तर्गत है। बिना सेवा के जो प्राप्त करोगे, वह सत्य से रहित होगा। ५–दृढ़ व्रत कृत अर्थात् नियमों मे ढिलाई न करना। नित्य नैमित्तिक नियमों को दृढ़ता के साथ पालन करना। नियमों मे जहाँ शिथिलता आई वहाँ सत्य न रहकर दम्भ हो जाता है। ६–आस्तिकता—वेद शास्त्र और ईश्वर के प्रति आस्तिक भाव। ७–साधु संग—सत् पुरुषों का आचरण सत्य ही होता है। ऐसे सत्य परायण पुरुषों का संग भी सत्य का पालन ही है। ८–माता-पिता का प्रियङ्कर—जिन माता-पिता ने हमे जन्म दिया है, पाल पोसकर बड़ा किया है। उनकी प्रसन्नता के निमित्त उनकी सेवा सुश्रूषा करना भी सत्याचरण ही है। ९–शौच—पवित्रता रखना। इस अपवित्र देह को और अधिक अपवित्र न करना। जल से मृतकादि से इसको निरन्तर शुद्ध रखना। तथा १०–भीतर की पवित्रता- शुद्ध आचरणों से अन्तःकरण को पवित्र रखना। ११–ह्री—ह्री कहते हैं लज्जा को बुरे कामों को करने मे सदा लजाते रहना। लज्जा का पुत्र विनय है। जो बुरे काम से लजाता है वह सदा विनयावनत बना रहता है। और सत्य का बारहवाँ अङ्ग है १२–अपरिग्रह हम जो अपनी अवश्यकता से अधिक वस्तुओं मे अपनापन करके उनमे आसक्त हो जाते हैं, यह भी सत्य की हत्या है। अतः जितने से शरीर निर्वाह हो उतने पर ही अपना स्वत्व माने शेष सबको परोपकार मे लगा दे। इस प्रकार धर्म का जो पहिला पाद सत्य है इसके ये बारह भेद हैं।

अब सत्य के दूसरे पाद दया के ६ भेद है, उनको भी सुनो।

१–परोपकार, २–दान, ३–स्मित भाषण, ४–विनय, ५–न्यून भाव स्वीकार, और ६–समत्व बुद्धि।

१–परोपकार—यह भाव मन में रखे कि जैसा कष्ट मुझे होता है वैसा दूसरों को भी होता होगा। अतः सभी प्राणियों पर दया के भाव रखकर यथाशक्ति प्राणिमात्र के उपकार में लगा रहे।

२–दान सब वस्तु भगवान् ने निर्मित की हैं सब उन्हीं की हैं, अतः जो अपने पास हो उसमें से यथाशक्ति दूसरों को देता रहे, जिससे सभी का भला हो।

३–स्मित भाषण जो व्यक्ति क्रोध करता है उसे देखकर सब भयभीत हो जाते हैं और अपना भी अन्तःकरण जलता है। अतः जब भी जिससे भाषण करे सर्वदा मुस्कराते हुए ही भाषण करे। जो सदा सर्वदा मुस्कराहट के साथ भाषण करता है मानों वह जीवमात्र के प्रति दया के भाव रखता है।

४–विनय—हम पहिले ही बता चुके हैं, विनय लज्जा का पुत्र है। जो क्रोध करता है, वह तो हिंसक है, जो सब के सम्मुख विनयावनत रहता है मानों प्राणीमात्र पर दया दर्शाता है।

५–न्यून भाव स्वीकार—अभिमान में भरकर जब हम अपने को सर्वश्रेष्ठ समझकर सब पर अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं तो हम सब को तुच्छ बनाकर उनकी हिंसा करते हैं। और सब को भगवत्रूप मानकर एक अपने को ही मन से सब का दास मान लेते हैं, तो मानों दया देवी के प्यारे बन जाते हैं।

६–समत्व बुद्धि—यह सोचे कि देह तो सभी का पंच भूतों से ही बना है, अतः देह भाव से तो सभी बराबर ही हैं। आत्मा में छोटा बड़ापन है ही नहीं। अतः देह और आत्मभाव से भी सब में समता की मति रखना यह भी दया का ही अंग है। इस प्रकार धर्म के दूसरे पाद दया के इतने भेद हैं।

धर्म का तीसरा पाद है शान्ति। उस शान्ति देवी के ३० लक्षण हैं। १. अनसूया, २. अल्प सन्तोष, ३. इन्द्रिय संयम, ४. असङ्गम, ५. मौन, ६. देवपूजा विधि रति, ७. निर्भयता, ८. गम्भीरता, ९. स्थिर चित्तता, १०. अरूक्ष भाव, ११. निःस्पृहता, १२. दृढ़मति, १३. अकार्य विवर्जन १४. नान्य मानापमान १५. पर गुण श्लाघा, १६. अस्तेय, १७. ब्रह्मचर्य, १८. धैर्य, १९. क्षमा, २०. अतिथि सत्कार, २१. जप, २२. होम, २३. तीर्थ सेवा, २४. आर्यसेवन, २५. मत्सरहीनता, २६. बन्धमोक्ष ज्ञान, २७. संन्यास, भावना, २८. सुदुःखों में सहिष्णुता २९. अकृपणता और ३०. मूर्खता। जिन कारणों से अशान्ति मिटकर शान्त होती हैं, ये सब शांति के अंग हैं जैसे—

१ अनसूया—हम किसी की निन्दा तभी करते हैं, जब उसमें दोषों को देखते हैं। दोष दर्शन से चित्त अशान्त हो जाता है, अतः शान्ति के इच्छुक को किसी के दोषों को न देखकर उसकी निन्दा न करनी चाहिये।

२—अल्प सन्तोष—संसार के जितने भी भोग मिलते जाते हैं तृष्णा उतनी ही मात्रा में अधिकाधिक बढ़ती जाती है जब इच्छा नुसार वस्तुएँ नहीं मिलती तभी अशांति होती है। अत प्रारब्ध वश जो भी थोड़ा बहुत प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तोष करने से शांति प्राप्त होती है। अतः अल्प में ही सन्तोष रखे। बहुत तृष्णा न करे।

३—इन्द्रिय संयम—इन्द्रियों का स्वभाव ही है विषयों को देख-कर उनकी ओर दौड़ना। अतः इन्द्रियों को संयम रूपी रज्जु में सदा बाँधे रहने से शांति मिलती है।

४—असंगम—संसारी भोगों मे मन लुभा ही जाता है, अतः

भोगों मे अपने मन को आसक्त न होने दे, उनमे अनासक्त भाव रखे इससे चित्त में शांति आती है।

५–मौन— बहुत बकवाद करने से चित्त अशांत हो जाता है, झूठी सच्ची व्यर्थ की बातें मुख से निकल जाती हैं। अतः बहुत तोलकर सत्य वचन ही बोले–भगवान् के नामों को उनकी लीलाओं को गुण तथा महिमा के ही सम्बन्ध में बोले, शेष बातों मे मौन रहे। मौन से कलह नहीं होती।

६–देव पूजा विधि मति— जैसे की पूजा करेगा वैसे ही अपनी बुद्धि बन जायगी। अतः अपनी मति को सदा सर्वदा देव पूजन मे ही लगाये रहे। दिव्य गुण वाले देवताओं की पूजा, अर्चना वंदना स्तुति से चित्त मे शांति होती है।

७–निर्भयता—भय सदा दूसरों से हुआ करता है। जिन्हें हम अपना समझते हैं उनसे भय नहीं होता, अतः सभी को अपना ही अभिन्न आत्मा मानकर सबसे निर्भय रहे। न तो स्वयं किसी को भय पहुँचावे और न स्वयं किसी से भयभीत हो।

८–गम्भीरता— हलकापन विषयों के संसर्ग से लोभ लालच तथा आसक्ति के कारण होता है, अतः इन सब का परित्याग करके सदा समुद्र की भाँति विशाल हृदय बनाकर गम्भीर बना रहे। जिससे क्षुद्रता पास न फटकने पावे। महत्ता में ही सुख शांति है, क्षुद्रता अल्पता में नहीं।

९–चित्त स्थिरता— चित्त चञ्चल और अस्थिर कब होता है, जब वह किसी वस्तु को पाने के लिये व्याकुल हो उठता है। अतः वस्तुओं से मन को खींचकर उसे चञ्चल न होने दे। मन को स्थिर बनाये रखे। स्थिरता ही चित्त को शान्ति प्रदान करती है।

१०–अरूक्ष भाव— जो लोग रूखे चित्त के होते हैं जो हँसना, जानते ही नहीं ऐसा पुरुष सबके लिये उद्वेग कारक होता है

अतः चित्त को प्रसन्न रखे। मन्द-मन्द मुस्कराता रहे। चित्त में कोमलता सरसता लावे।

११-निःस्पृहता—इच्छा ही दुख की जननी है, हम किसी के सामने छोटे हलके तब होते हैं, जब हमारे मन में कोई स्पृहा हो वासना हो भोगेच्छा हो। जो परोपकार निरत है, आस्तिक है उसे किसी संसारी व्यक्ति से किसी प्रकार की स्पृहा न रखनी चाहिये। सदा सर्वदा सर्वत्र निस्पृह बने रहना चाहिये।

१२-दृढमति—बुद्धि जहाँ अस्थिर होती है यह करें या न करें ऐसी दुविधा में पड़ी रहती है, तो उससे अशान्ति बढ़ती है। अतः सद् असद् का विवेक करके मति को सुदृढ़ बनाये रखना चाहिये।

१३-अकार्य निवर्जन—हम जिस कार्य को नहीं करने योग्य जानकर भी लोभ लालच वश उसे कर लेते हैं, तो अन्तःकरण अशान्त हो जाता है। अतः जो कार्य न करने योग्य हो, उसे कदापि न करे, उससे सदा दूर ही रहे।

१४-तुल्य मानापमान—जहाँ मान, पूजा प्रतिष्ठा होती है। उसे ग्रहण करने से आगे उससे भी अधिक पूजा प्राप्त करने की वासना स्वाभाविक हो उठती है, उससे अधिक पूजा न मिले तो अपना अपमान अनुभव करने लगता है, इसी प्रकार अपमान हो जाने पर चित्त क्षुब्ध होकर अशान्ति बढ़ जाती है। अतः मान अपमान में सम रहे। पूजा हो जाय तो भी उसे अनित्य शरीर की ही माने। आत्मा का तो कोई अपमान कर ही नहीं सकता। कहीं अपमान भी हो जाय, तो उसे भी शरीर का ही अपमान समझे। दोनों में सम बना रहे।

१५-परगुण श्लाघा—जीव का धर्म है, वह पर गुणों को सहन नहीं कर सकता। दूसरों के गुणों में दोष स्वाभाविक ही

दीख जाते हैं। दूसरो के गुण दिखाई नहीं देते। अवगुण देखने से अवगुणों का कथन करने से अशान्ति ही बढ़ती है। अतः साहस करके दूसरो के गुणों को देखने की चेष्टा करे और उन गुणों की प्रशंसा करे। दूसरों के गुण कथन से मन मे आह्लाद होता है।

१६–अस्तेय—हम दूसरों की वस्तुओं मे, दूसरों की कृतियों मे उपयोगिता देखते हैं तो उन्हे अपनाने की चेष्टा करते है, यही चोरी है अतः बिना पूछे किसी वस्तु को मत चुराओ। चोरी करने से शान्ति भङ्ग हो जाती है।

१७–ब्रह्मचर्य—पर नारी से अष्ट प्रकार के मैथुनों से बचे रहना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अतः अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर अपने से जो छोटी हों, उन्हे पुत्री के सदृश, बराबर वालियों को भगिनी के सदृश और अपने से बड़ियों को माता के सदृश माने। कभी कामनावश किसी भी क्रिया से व्यर्थ बिन्दुपात न होने दे।

१८–धैर्य—प्राणी दुःख पड़ने पर अधीर हो जाता है। वह सोच मे पड़ जाता है। उस की शान्ति भङ्ग हो जाती है। अतः दुःख में भी अधीर न हो। धैर्य धारण किये रखे क्योंकि दुःख सुख आते जाते हैं। धैर्यवान् पुरुष ही विपत्ति रूपी सागर से पार हो जाता है।

१९–क्षमा—प्राणी, जान में अनजान मे अपराध करते ही रहते हैं अतः दूसरों के अपराधों को क्षमा करता रहे। क्षमा न करेगा तो उसे अशान्ति बनी रहेगी। क्षमा कर देने पर मन से एक भार सा उतर जाता है।

२०–अतिथि सत्कार—यह संसार परस्पर के सहयोग से–उदारता से–सद्व्यवहार से ही चल रहा है। आप प्यासे हों और कोई पानी पिला दे, भूखे हों भोजन करा दे, तो आप को कितनी शांति होगी। इसी प्रकार निवास, भोजन, पान की आशा से

तुम्हारे यहाँ अकस्मात् जो आ जाय तो उसका यथाशक्ति सत्कार करने से अन्तःकरण मे शाति अनुभव होती है, अतः जहाँ तक हो वहाँ तक अतिथि का यथाशक्ति सत्कार अवश्य करना चाहिये।

२१-जप—मन कुछ न कुछ धुना धुनी करता ही रहता है। है। अतः उसे भगवत् स्तुति प्रार्थना के जो मन्त्र हैं उनके जप मे लगाये रहने से चित्त की व्यग्रता मिट जाती है। अतः नित्य नियम से इष्ट मन्त्रों का जप करना यह भी शाति का आवाहन करना ही है।

२२ होम—अग्नि देवताओं का मुख है, उसमे आहुति डालने से देवता प्रसन्न होते हैं। अतः नित्य होम भी करना चाहिये।

२३-तीर्थ सेवा—जैसा स्थल होता है, वहाँ का वायु मडल भी वैसा ही बन जाता है। सदा से तीर्थों में साधु सन्त सज्जन पुरुष निवास करते हैं, देवता भी वहाँ आते हैं, ऐसे तीर्थ स्थानों का वायु मडल दोषो से रहित होता है अतः जितने भी दिन अधिक से अधिक रह सकें पुण्य तीर्थों मे निवास करे। इससे चित्त में शान्ति आती है।

२४ आर्य सेवन—जो अपने श्रेष्ठ सत्पुरुष हों, उनका सग करने से उनके समीप रहने से अज्ञान का नाश होता है, अशान्ति दूर होती है, अतः सज्जन पुरुषों का ही सग करना चाहिये। उनकी सेवा करनी चाहिये।

२५-मत्सर हीनता—मद मत्सर ही पुरुषार्थ के सबसे बडे शत्रु हैं, वे न तो नित्य नेमित्तिक कर्मों को भली भाँति होने देते हैं न दूसरो के प्रति श्रद्धा ही जमने देते हैं। अतः मद मत्सर को पास भी न फटकने देना चाहिये सदा मत्सर हीन होकर ही रहना चाहिये।

२६-बन्ध मोक्ष ज्ञान—यह बन्धन है, यह मोक्ष है। इस कर्म से ससार बन्धन होता है, इससे ससार के बन्धन कट जाते हैं। यह ज्ञान सात्त्विक बुद्धि द्वारा होता है, अत बन्ध मोक्ष जानने वाली सात्त्विकी बुद्धि को धारण करना चाहिये।

२७ सन्यास भावना—न्यास त्याग का नाम है। जीव सग्रह करना बहुत चाहता है। चूहे चींटी भी दिन भर परिश्रम करके अपने घर म बहुत सा अन्न सग्रह कर लेते हैं। कोई ले जाता है तो बडी अशान्ति हो जाती है। अत सदा सर्वदा त्याग की ही भावना रखे। सग्रह का भावना का परित्याग कर दे।

२८ सुदु ख सहिष्णुता—सहनशीलता उसे कहते हैं, कि कोई अपना अपकार भी कर दे तो उसे सह ले। इसी प्रकार भारी से भारी दु ख पडने पर भी उसे सहन करने को सहिष्णुता कहते है। सहिष्णु पुरुपा के मन में अशान्ति नहीं आने पाती। वे प्रारब्ध भोग समझकर बडे से बडे दखो को भी हँसकर सहन कर लेते हैं।

२९ अकृपणता—अपने पास सामग्री है, उसे आवश्यक धर्म कार्य आने पर भा व्यय न करना दूसरों से ले लेने की इच्छा तो रखना, किन्तु देते समय हाथ भीच लेना—यही कृपणता है। ऐसा यक्ष वित्त जीवन भर तो अशान्त रहता ही है। मरकर भी उसे शान्ति नहीं मिलता, अधम योनियों में जाकर उस वित्त की चिंता में अशान्त बना रहता है।

३०—अमूर्खता—मूर्ख पुरुष को सत् असत् का धर्म अधर्म का, बन्ध मोक्ष का ज्ञान नहा रहता इसलिये मूर्खता से सदा बचा रहे।

ये सात लक्षण धर्म के तीसरे पाद शान्ति के हैं। अब धर्म के चौथे पाद अहिंसा के भी सात भेद हैं। उनके नाम १, आसन

जय, २. पर पीड़ा विवर्जन, ३. श्रद्धा, ४. अतिथि सत्कार, ५. शांत भाव प्रदर्शन, ६. सर्वत्र आत्मीयता और ७. पर में भी आत्म बुद्धि।

१. आसन जय— घूमने घामने मे कितना भी बचाओ हिंसा हो ही जाती है। अतः एक स्थान मे बैठकर आसन जय कर लेना चाहिये। आसन जय से मनुष्य बहुत सी हिंसाओं से बच सकता है।

२. पर पीड़ा विवर्जन— दूसरों को पीड़ा पहुँचाना ही हिंसा है, इसलिये जहाँ तक हो इससे बचता रहे।

३. श्रद्धा—हिंसा सदा अश्रद्धालु ही करेगा। जिसे धर्म पर, वेद पर, गुरुजनो पर समस्त जीवों पर श्रद्धा है। फिर वह किसकी हिंसा करेगा, अतः श्रद्धा रखना ही हिंसा से बचना है।

४. अतिथि सत्कार— इस सम्बन्ध मे तो शान्ति प्रकरण मे बता ही चुके हैं। अपने पास आये हुए भूखे प्यासे का सत्कार न करना उसकी हिंसा ही है। अतः कुछ न हो तो वाणी से केवल जल से ही अतिथि का सत्कार करके हिंसा से बच सकता है।

५. शान्त भाव का प्रदर्शन—अपने को अशान्त दिखना भी हिंसा ही है, अतः सदा सर्वदा अपने को शान्त भाव मे स्थित प्रदर्शित करे।

६. सर्वत्र आत्मीयता— जब तक आत्मीयता न होगी, तब तक दूसरो के दुख दूर करने की भावना न आवेगी। अतः सर्वत्र अपनी आत्मा को ही देखने का अभ्यास करे।

७. पर मे भी आत्म बुद्धि—स्वभावतः कुछ में अपनापन होता है, कुछ मे परायापन। जिनमें परायापन भी हो उनमे भी आत्म बुद्धि करने की सतत चेष्टा करे ऐसा करने से जिनमे परायापन है, उनको मानसिक हिंसा से बचा जा सकता है।

इस प्रकार धर्म के चार पाद सत्य, दया, शान्ति और अहिंसा के अन्तर्गत ही समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है, धर्म का बडा लम्बा चौड़ा परिवार है। इसी से इसे विस्तार के साथ बताया है और किसी ने इसे अत्यन्त संक्षेप मे बताया है। कहीं धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध कहकर धर्म को दश लक्षणों वाला बताया है।

पद्म पुराण मे धर्म के ६ लक्षण बताये हैं। वे इस प्रकार हैं-सुपात्र को दान देना, भगवान् मे मति होना, माता पिता का पूजन करना, सत्कर्मो मे श्रद्धा रखना, बलि वैश्व करना और गौओं को ग्रास निकालना।

एक स्थान पर धर्म का यथार्थ मर्म बताते हुए कहा है—"मैं धर्म का सार सिद्धान्त बताता हूँ, उसे सुनो और सुनकर धारण करो। जो बात तुम्हे अच्छी न लगे, उसका व्यवहार दूसरों के साथ मत करो।"

इस प्रकार धर्म के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की आख्यायिकायें हैं। सबका सार यही है कि सद्गुणों के अनुसार आचरण करना धर्म है, दुर्गुणों के अनुसार आचरण करना अधर्म है। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ जाती है, कि उस समय यह निर्णय करना कठिन हो जाता है, कि कौन काम धर्म है कौन अधर्म है। इसलिये ऋषियों ने धर्म के निर्णय के चार लक्षण बताये हैं। सब से पहले तो यह देखे कि इस विषय में वेद की क्या आज्ञा है। वेद मे तो सभी बातें सूत्र रूप से संक्षेप मे कही गयीं हैं। वेद की बातों का ही विस्तार स्मृतियों में किया गया है, वेद मे कुछ संशय रह गया तो यह देखे स्मृतिकारों ने ऐसे प्रसङ्गों पर क्या निर्णय किया है। वेद स्मृति वाक्यों में मिलान हो जाय तब तो उत्तम ही है, यदि फिर भी कुछ संशय हो, तो पुराण इतिहास में यह देखे कि

ऐसे प्रसंग आने पर सज्जन पुरुषों ने कैसा आचरण किया था सदाचारी पुरुषों के आचरणों को भी देखकर धर्माधर्म का निर्णय करे। वेद, स्मृति, सदाचार, के वचनों को लेकर फिर अपने सद् असद् विवेकिनी सात्त्विकी बुद्धि से निर्णय कर ले। वेद शास्त्रों के आधार पर सात्त्विकी बुद्धि ही धर्माधर्म का निर्णय करने में समर्थ हो सकती है। पीछे बताया जा चुका है कि प्रवृत्ति निवृत्ति कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष इन सब का यथार्थ निर्णय सात्त्विकी बुद्धि ही कर सकती है। अब राजसी और तामसी बुद्धि के सम्बन्ध में आगे सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान से राजसी और तामसी बुद्धि के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—अर्जुन! सात्त्विकी बुद्धि में और राजसी बुद्धि में इतना ही अन्तर है कि सात्त्विकी बुद्धि तो कार्य-अकार्य तथा धर्म और अधर्म के विषय में यथावत् निर्णय करने में समर्थ होती है वह निश्चयात्मकरूप से निर्णय कर लेती है. कि यह कार्य धर्म्य है यह अधर्म्य, यह कर्तव्य है यह अकर्तव्य। किन्तु जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य को निश्चयात्मक रूप से नहीं जानती। जिसे धर्म्य अधर्म्य में, कर्तव्य-अकर्तव्य में संशय बना रहता है, वही बुद्धि राजसी है।

अर्जुन ने पूछा—"धर्म क्या ?"

भगवान् ने कहा—"शास्त्र जिसे करने की आज्ञा दे' जो शास्त्र विहित कर्म है वही धर्म है।"

अर्जुन ने पूछा—"अधर्म किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"धर्म के प्रतिकूल जो शास्त्र प्रतिषिद्ध निषिद्ध कर्म है वही अधर्म है। ये दोनों ही अदृष्ट प्रयोजन वाले

हैं। धर्म का और अधर्म का फल प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता। प्रत्यक्ष तो कार्य-अकार्य दिखाई देते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कार्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो किया जाय, वह कार्य है (क्रियते यत् तत् कार्य) यहाँ कार्य से तात्पर्य है, कर्तव्य कर्म से, जिस वर्ण के लिये जिस आश्रम के लिये जो विहित कर्म हैं, वेद तथा अन्यान्य धर्म शास्त्रों ने जिन-जिनके लिये जो कर्म विधान किये हैं। उन-उनके *लिये वे काम कार्य हैं।"*

अर्जुन ने पूछा—"फिर अकार्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—"इसके विपरीत जिनके लिये जो जो कर्म निषिद्ध किये हैं, वे सभी कर्म अकार्य हैं। कौन-सा कर्म किस परिस्थिति मे किसके लिये करने योग्य है और वही कर्म स्थिति के अनुसार किसके लिये अकार्य है। इसका यथार्थ निर्णय सद्-असद् विवेकिनी सात्त्विकी बुद्धि ही कर सकती है। राजसी बुद्धि धर्म-अधर्म को, कार्य अकार्य को यथावत् नहीं जान सकती। वह *यथार्थ निर्णय करने मे समर्थ नहीं होती, वही बुद्धि राजसी बुद्धि* कहलाती है।"

अर्जुन ने पूछा—"तामसी बुद्धि के क्या लक्षण हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! जो पुरुष तमोगुणी हैं, जिनकी बुद्धि को तमोगुण ने व्याप्त कर रखा है, उनकी वह बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि से सर्वथा विपरीत ही बन जाती है। सात्त्विकी बुद्धि तो सद्-असद् का भली भाँति विवेचन करने मे समर्थ होती है। वह तत्काल निर्णय कर लेती है यह मार्ग प्रवृत्ति का है यह निवृत्ति का। इस कार्य को करना श्रेयस्कर है, इस अकार्य को करना अश्रेयस्कर है। इस कार्य के करने से संसार बन्धन छूट जायँगे, इसके करने से और अधिकाधिक बन्धन में पड़ जायँगे। राजसी

बुद्धि संशयात्मक होती है। वह भले बुरे के निर्णय को यथार्थ रूप मे करने मे समर्थ नहीं होती, किन्तु तामसी बुद्धि सदा सर्वदा विपरीत निर्णय करती है। जो बात धर्म की है उसे वह अधर्म की समझेगी। जो अधर्म है उसे धर्म मानकर उसका आचरण करने को कहेगी। वह सभी विषयों को विपरीत ही समझती है। तमोगुण बुद्धि के सत्-असत् विवेक को नष्ट कर देता है। वह संशयात्मिका ही नहीं होती, किन्तु सर्वथा विपरीत बन जाती है। अधर्म को ही धर्म समझने लगती है। ऐसी तामसी बुद्धि सर्वथा हेय है।''

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! जैसे आपने सात्त्विकी, राजसी और तामसी इस प्रकार तीन भाँति की बुद्धि बतायीं, उसी प्रकार आपने धृति को भी त्रिविध बताया है, अतः मैं अब धृति के भी तीन भेद आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ। कृपा करके धृति के भी तीन भेदों को मुझे आप बता दे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान् त्रिविध धृति को भी बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तामस पुरुष अधर्म करें तिहि धरमहिँ जानें।
पंडित शिक्षा देहिँ ताहि मिथ्या करि मानें॥
जितने सद्गुन कहे तिनहिँ बिपरीत बतावैं।
शास्त्र वाक्य नहिँ सुनहि आपनी बात चलावैं॥
जिनकी बुद्धि घिरी रहे, सदा तमोगुन बीच में।
बुद्धि तामसी तिनि कही, फँसे पाप की कीच में॥

त्रिविध धृति

[१८]

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० ३३, ३४, ३५ श्लो०)

छप्पय

बुद्धि भेद तो कहे पार्थ ! धृति अब सुनु भाई ।
धारन जातें करें ताहि तें धृति कहलाई ॥
अव्यभिचारिनि कही वही है धृति अति उत्तम ।
ज्ञानयोग तें करै धारना जो नर सत्तम ॥
इन्द्रिय मन अरु प्रानकी, क्रिया सतत धारन करत ।
वही सात्त्विकी धृति सबहिँ, शास्त्र जाहि उत्तम कहत ॥

---

* हे पार्थ ! योग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को जिस अव्यभिचारिणी धारणा द्वारा धारण करते हैं, वह सात्त्विकी धारणा है ॥३३॥

हे पार्थ ! फल की आकांक्षा वाला पुरुष अति आसक्ति से जिस

अष्टाङ्ग योग में जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार हैं। उनमें से यम नियम तो सभी साधनों में आवश्यक ही हैं। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बाह्य साधन हैं। धारणा ध्यान और समाधि ये आभ्यान्तर साधन हैं। धारणा की परिपकता का ही नाम ध्यान है और ध्यान की परिपकता को ही समाधि कहते हैं। किसी क्रिया को, भाव को अथवा वृत्ति को अन्तःकरण में धारण करने को धृति या धारणा कहते हैं। ब्रह्मात्म चिन्ता को ध्यान कहते हैं और मन की धृति को धारणा कहा गया है। प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार होता है और तदनन्तर धारणा होती है इन्द्रियों की, मन, प्राण, ज्ञान, आयु और सुख की क्रियाओं को जो वृत्ति धारण करती है वही धृति कहलाती है। वह धृति भी कर्ता के स्वभावानुसार सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है। कर्ता यदि सात्त्विक प्रकृति का है, तो उसकी बुद्धि, धृति तथा अन्य वृत्तियाँ भी सात्त्विकी होगी। उसका सुख भी सात्त्विक होगा, इसी प्रकार कर्ता राजस तथा तामस स्वभाव का होगा तो उसकी समस्त वृत्तियाँ और उसके सुख साधनादि भी राजस, तामस होंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने भगवान् से त्रिविध धृति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन पहिले तुम धृति का अर्थ समझो। धृति कहते हैं धारणा को।

धारणा से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, हे अर्जुन ! वह राजसी धारणा है ॥३४॥

हे पार्थ ! जिस धारणा के द्वारा दुष्टबुद्धि वाला पुरुष निद्रा, भय, शोक, विषाद तथा मद को नहीं छोडता है, वह तामसी धारणा है ॥३५॥

धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों जहाँ एक हो जायँ उसे संयम कहते हैं। इन में सबसे पहिले धारणा है। जब वह धृति समाधि से व्याप्त हो जाती है, तो चित्त की चञ्चलता मिट जाती है। वह धृति सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है।

अर्जुन ने पूछा—"सात्त्विकी धृति के क्या लक्षण हैं?"

भगवान् ने कहा—"जिस अव्यभिचारिणी धृति से मनुष्य योग द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, हे पार्थ! उसी धृति का नाम सात्त्विकी धृति है।"

अर्जुन ने पूछा—"अव्यभिचारिणी धृति का अभिप्राय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"व्यभिचार कहते हैं, अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्यों से भी स्वामीपने का सम्बन्ध रखना। धारणा जब तक नाना विषयों को धारण करती है, तब तक वह व्यभिचारिणी बनी रहती है। जब धारणा अन्य सभी विषयों का परित्याग करके एक मात्र मुझ सर्वेश्वर को ही धारण करती है, मुझ भगवान् के अतिरिक्त अन्य संसारी विषयों को धारण ही नहीं करती, उसी धृति का नाम अव्यभिचारिणी धृति है। जब एक मात्र मुझ भगवान् को ही धृति धारण कर लेती है, अन्य वृत्तियों से हट जाती है, तो उसे योग समाधि कहते हैं। जब धृति समाधि से व्याप्त हो जाती है, तब मन फिर अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता, उस दशा में मन की, इन्द्रियों की तथा प्राणों की क्रियायें अपने आप रुक जाती हैं। अतः उसी धृति का नाम सात्त्विकी धृति है।"

अर्जुन ने पूछा—"राजसी धृति के क्या लक्षण हैं?"

भगवान् ने कहा—"सात्त्विकी धृति तो एक मात्र मोक्ष स्वरूप को धारण करती है किन्तु राजसी धृति धर्म, काम और अर्थों को

अत्यन्त आसक्ति से–प्रसंग से–फल की इच्छा से धारण करती है, हे पार्थ ! वह राजसी धृति है।"

अर्जुन ने कहा—"प्रसग से क्या अभिप्राय है ?"

भगवान् ने कहा—"सग कहते है आसक्ति को–स्पृहा को। अत्यन्त स्पृहा–प्रबल आसक्ति–से कर्ता यह सोचकर धारणा करे कि इस धारणा से मुझे यह फल प्राप्त हो ही जायगा। वह अपने में कर्तापने का अभिमान रखकर केवल धर्म, अर्थ और काम को ही अपना कर्तव्य समझ कर उसे ही करने की निश्चित धारणा करता है, मोक्ष के विषयों मे उदासीन बना रहता है, तो उस कर्म की वह धारणा राजसी धारणा है।"

अर्जुन ने पूछा—"तामसी धृति के क्या लक्षण हैं ?"

भगवान् ने कहा—"दुर्मेधा पुरुष जिस धृति के द्वारा स्वप्न भय, शोक, विषाद, और मद का परित्याग नहीं कर सकता वह धृति तामसी धृति है।"

अर्जुन ने पूछा—"दुर्मेधा किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जिसकी मेधा–बुद्धि दुष्ट हो–सत्–असत् निर्णय करने में असमर्थ हो उस व्यक्ति को दुर्मेधा कहते है। वह यह विवेक नहीं कर सकता कौन कर्तव्य है कौन अकर्तव्य है। वह स्वप्न का परित्याग नहीं कर सकता।"

अर्जुन ने पूछा—"स्वप्न क्या ?"

भगवन् ने कहा—"वैसे जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं मे से जाग्रत और सुषुप्ति के मध्य की अवस्था का का नाम स्वप्न है। किन्तु यहाँ जाग्रत से अतिरिक्त निद्रा, आलस्य प्रमाद और स्वप्न ये सभी स्वप्न के ही अन्तर्गत समझ लेना चाहिये स्वप्न के साथ ही जिस धारणा में भय बना रहे।"

अर्जुन ने पूछा—"भय क्या ?"

भगवान् ने कहा—"भय कहो भीति कहो डर, त्रास, भी, साध्वस, आतङ्क तथा आशंका ये सब भय के ही पर्यायवाची शब्द हैं। डर के कारण चित्त में विकलता हो जाने का नाम भय है। जैसा हमारा किसी विषय मे राग है, उसके नष्ट होने का समय उपस्थित हो गया। उस नाश के कारण को हम हटाने में असमर्थ हैं, उस समय जो चित्त की एक प्रकार से दीन वृत्ति हो जाती है उसी का नाम भय है। तामस धृति में स्वप्न और भय के साथ शोक भी बना रहता है।"

अर्जुन ने पूछा—"शोक क्या ?"

भगवान् ने कहा—अपने प्रिय के वियोग की जो मानसिक पीड़ा है उसे शोक कहते हैं। उसमें चित्त की विकलता बढ़ जाती है। चित्त में खेद या सोच होने लगता है। शोक सदा आसक्ति से हुआ करता है। अतः तामसी धृति में निद्रा, भय और शोक के साथ ही साथ विषाद भी बना रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"विषाद क्या ?"

भगवान् ने कहा—"अपने इष्ट के वियोग से जो मानसिक क्लेश होता है उस मन की वृत्ति का तो नाम शोक है, उस शोक के कारण जो-जो बाह्य इन्द्रियों में सन्ताप या ग्लानि होती है उसी का नाम विषाद है। उसे जाड्य, मौर्ख्य, अवसाद, साद और विषमता भी कहते हैं। जिसके कारण विषाद हो रहा हो और उसके शमन के निमित्त का कोई संकेत मिल जाता है तो विषाद का शमन हो जाता है। अतः तामसी धृति में निद्रा, भय, शोक और विषाद के साथ ही साथ मद भी बना रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"मद क्या ?"

भगवान् ने कहा—शास्त्र विरुद्ध अहंकार पूर्वक विषय सेवन में तत्परता ही मद कहलाता है। मद अनेक कारणों से होता है।

जाति मद, कर्मों का मद, युवावस्था का मद, रूप का मद, धन का मद, विद्या का मद तथा ऐश्वर्यादि समस्त संसारी भोगों को अहंकार पूर्वक सेवन करने का नाम ही मद है। जिस विवेकहीन दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष की धृति स्वप्न, भय, शोक, विषाद तथा मदादि को नहीं छोड़ती वही धृति तामसी धृति है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन ! यह जीव निरन्तर कर्मों को ही करते रहने की इच्छा क्यों करता है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया अर्जुन ! सभी जीव अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी-अपनी धारणा के अनुसार सुख प्राप्ति तथा दुःख निवृत्ति के ही निमित्त समस्त कर्मों को करते हैं। सभी चाहते हैं–मुझे सुख ही सुख हो। दुःख कभी न हो। दुःख की सम्भावना हो जाय, तो उसकी निवृत्ति के अर्थ और सुख की प्राप्ति के ही निमित्त समस्त कर्म किये जाते हैं। दुःख की निवृत्ति भी सुख की प्राप्ति ही है। अतः कर्मों के करने का एकमात्र लक्ष्य सुख की प्राप्ति ही है।"

अर्जुन ने पूछा—"श्रद्धा, धृति कर्ता आदि के समान क्या सुख के भी ३ भेद हैं ? यदि हैं तो कृपा करके उन्हें भी मुझे बता दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर अब भगवान् जैसे अर्जुन को सुख के भेद बतावेंगे, उस कथा प्रसंग को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

करमनि करै सकाम धारना शक्ति धारिकें।
करै फलनि आसक्ति नहीं करतव्य समुझिकें॥
धरमनि धारन करै अरथ फल हित ही धारै।
विषयनि में मन फाँसि काम सुख में मन डारै॥

वही धारना राजसी, पारथ पडितजन कहहिँ।
जो जन है अति राजसी हिये धारना अस धरहिँ ॥

तृतिय तामसी धतिके लच्छन पार्थ सुनाऊँ।
बुद्धि अधिक जिनि भ्रष्ट दुष्ट तिनि धृति बतलाऊँ ॥
जासु धारना शक्ति होहि चिन्ता हिय अतिशय।
निद्रा आवै बहुत होहि भय दु:ख दुराशय ॥
नहिँ छोडत उन्मत्तता, विपय वासना मन बसी।
अरजुन ! अतिहि समासतैं, कही दुखद धृति तामसी ॥

सात्विक-सुख

[१६]

सुख त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥*
(श्री० भग० गी० १८ अ० ३६, ३७ श्लो०)

छप्पय

बुद्धि और धृति भेद बताये अरजुन ! मैंने ।
तीन-तीन-तिनि भेद जताये पूछे तैंने ॥
सुखहू तीनि प्रकार ताहि हू तोइ सुनाऊँ ।
सात्त्विक सुख है प्रथम प्रथम ही ताहि बताऊँ ॥
जा सुखमें साधक भजन, ध्यान आदि में रत रहे ।
सेवादिक अभ्यास तैं, रमन करै दुख नहिँ सहै ॥

---

* हे भरतर्षभ ! अब तुम मेरे से तीनि भाँति के सुखों को भी सुनो । जिस सुख में पुरुष अभ्यास के द्वारा रमण करता है, तो दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है ॥३६॥

जो सुख पहिले तो विष की भाँति लगे, किन्तु परिणाम में अमृतोपम हो और जो आत्मबुद्धि प्रसाद से प्राप्त हुआ हो, वह सात्त्विक सुख कहा जाता है ॥३७॥

श्री भगवान् श्यामसुन्दर के स्वधाम पधारने की इच्छा जानकर तथा उन्हीं की आज्ञा से उद्धवजी बदरीवन को जा रहे थे। मार्ग में भगवान की क्रीडा भूमि वृन्दावन के दर्शन हुए। वहाँ सहसा विदुरजी से उद्धवजी की भेंट हो गयी। दोनों को एक दूसरे से मिलकर परम हर्ष हुआ। कुशल प्रश्न के अनन्तर जब उद्धवजी ने बताया, कि भगवान तो स्वधाम पधार गये, मुझे भागवत का उपदेश देकर बदरीवन को भेजा है। उन्हीं की आज्ञा से मैं बदरीवन में तपस्या करने जा रहा हूँ।

तब विदुरजी ने प्रार्थना की—"उद्धवजी! भगवान् ने जिस भागवत ज्ञान का आपको उपदेश दिया है, उसे मुझे भी सुना दीजिये।"

तब हँसते हुए उद्धवजी ने कहा—"विदुरजी! आप बड़भागी हैं। यद्यपि मुनि अन्त समय में भगवान् का स्मरण करते हैं, किन्तु भगवान् ने अन्त समय में—स्वधाम पधारते समय—आपका स्मरण किया था। मेरे सामने ही भगवान् ने मैत्रेयमुनि से कहा था—"विदुरजी मेरे बड़े भक्त हैं, आपने जो भागवत ज्ञान मुझसे सुना है, उसका उपदेश तुम विदुरजी को अवश्य कर देना। सो बड़भागी विदुरजी आप हरिद्वार में मैत्रेयमुनि के समीप चले जायँ, वे आपको भगवान् के भागवत ज्ञान का उपदेश करेंगे।" यह कहकर उद्धवजी तो बदरीवन को चले गये, विदुरजी भगवान् की ऐसी अहैतुकी कृपा का स्मरण करके फूट फूटकर रोने लगे व्याकुल होकर मूर्छित हो गये। चेतना होने पर वे गंगा किनारे-किनारे चल कर हरिद्वार पहुँचे। वहाँ मैत्रेयमुनि को दण्ड प्रणाम करने के अनन्तर बात चलाने को उनसे चर्चा आरम्भ की।

विदुरजी ने कहा—"भगवन्! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ।"

भगवान् मैत्रेयमुनि ने कहा—"हाँ, पूछो तुम जो भी पूछोगे। भगवत् कृपा से मैं उसका यथार्थ उत्तर दूँगा।"

तब विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे जो भी कर्म करते हैं सभी सुख के ही लिये करते हैं। कर्मों के करने का एकमात्र उद्देश्य सुख प्राप्ति ही है, किन्तु देखते हैं, इसका परिणाम उलटा ही होता है। कर्मों से न तो उन्हे सुख की ही प्राप्ति होती है और न दुःखों की ही निवृत्ति होती है, होता है विपरीत ही कार्य, उन कर्मों से और अधिक दुःख ही प्राप्त होता है। इस विषय में उचित क्या है, यही बात आप मुझे बताइये।"

विदुरजी के इस प्रश्न का उत्तर मैत्रेयजी ने बड़े विस्तार के साथ दिया है। यह प्रश्न विदुरजी का ही नहीं है। प्राणीमात्र का यही प्रश्न है। हम सुख प्राप्ति के निमित्त कर्म करते हैं किन्तु कर्मों से होता है, बन्धन ही। बन्धन दुख का हेतु है। क्योंकि परवश होना ही बन्धन में पड़ना है, सबसे बड़ा दुख है। स्ववश होना आत्मवशी बने रहना यही सुख है। अब विचार करना है कि सुख है क्या?

जो सुख प्रदान करे वही सुख है (सुखयतीति सुख) नैयायिक लोग इसे आत्मा की एक वृत्ति मानते हैं। वेदान्ती कहते हैं सुख मन का ही एक धर्म है।

जो लोग चौबीस तत्त्व मानते हैं। उनमें एक तत्त्व सुख भी है। वे सुख के दो भेद करते हैं। १–नित्यसुख और दूसरा २–जन्यसुख। नित्यसुख तो परमात्मा का विशेष गुणान्तरवर्ती है और जन्यसुख जीव का विशेष गुणान्तरवर्ती है। जीव जिसे चाहकर प्राप्त करता है, उसे जन्यसुख कहते है जैसे धन की प्राप्ति से जीव को सुख प्राप्त होता है, इसी प्रकार मित्रों की प्राप्ति में,

आरोग्यता मे, मिष्टान्न, स्वादिष्टान्न पान में भी सुख होता है।

एक बार किसी राजा ने अपने बुद्धिमान मन्त्री से पूछा— "सबसे अधिक सुख कब होता है ?" मन्त्री बडा बुद्धिमान था, उसने सोचा "मैं कह दूँ, कि धन में स्वादिष्ट भोजन में, मित्र दर्शन मे सबसे अधिक सुख होता है, तो राजा कह देगा, मुझे तो इनमें विशेष सुख होता नहीं।" मन्त्री जानता था कि राजा को निष्ठब (कब्ज) रहता है, अर्श का (बवासीर का) रोगी है। अत मन्त्री ने कहा—"महाराज ! जिस समय खुलकर भलीभाँति शौच हो जाय, तो यही सबसे बडा सुख है।" यह सुनकर राजा हँस पडा और बोला —"मन्त्री जी आप यथार्थ कहते हैं इस सुख के सम्मुख और सभी सुख तुच्छ हैं। अतः पुरीषोत्सर्ग मे भी सुख होता है।

पुत्र जन्म के समय, पुत्र के स्पर्श मे, उसके मुख चूमने मे, उसकी चपलता मे, उसकी प्रसिद्धि तथा पाडित्य मे भी अपूर्व सुख होता है। स्त्री प्रसग मे, माता को बच्चे को स्तनपान में, अत्यत सुख होता है, जिसको जो वस्तु अत्यन्त इष्ट होती है उसको उसकी प्राप्ति मे अत्यधिक सुख होता है।

यज्ञादि कर्मों मे यद्यपि क्लेश होता है, किन्तु यह ज्ञान है कि इसका परिणाम सुखद होगा। अन्त मे इससे स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति होगी, अत. उसके परिणामजन्य ज्ञान के कारण यज्ञादि पुण्य कर्मों में भी सुखानुभूति होती है।

सुख से हर्ष, दर्प, शौर्य और उन्मत्तता होती है सुख से ही राग उत्पन्न होता है ऐश्वर्य की कामना बढती है, परस्पर मे विद्वेष भी ससारी सुखों को ही लेकर होता है। परन्तु ससार मे ऐसा एक भी व्यक्ति न होगा जिसे केवल सुख ही सुख मिले या दुख ही दुख मिले। कभी किसी क्षण किसी को सुख हो जाता है, कभी

दुख हो जाता है। जैसे रथ का पहिया कभी ऊपर हो जाता है, फिर कभी नीचे चला जाता है। जिस सुख की इच्छा हो, उसे कीट पतंग से लेकर मनुष्यों तक सभी को सुख पहुँचाना चाहिये। अपने से किसी को दुख न हो। सुख दुख का संबन्ध मन से है। मन जिसे सुख मान ले, उसके लिये वही सुख है, मन जिसे दुख मान ले वही दुख है। वास्तव मे सुख और दुख का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की अनुभूति नहीं हो सकती। अन्धकार न हो तो दीपक का क्या प्रयोजन ? जैसे अन्धकार और प्रकाश। दीपक के आने पर अन्धकार कहीं चला नहीं जाता। निर्धन है उसे धन मिल जाय तो वह अपने को सुखी मानने लगेगा। धनी है उसका धन नाश हो जाय तो वह महान् दुखी होगा। इसके विपरीत त्यागी पुरुष अपना विशाल धन वैभव त्यागकर सुखानुभूति करेगा। किसी त्यागी को धन दे दो, तो वह धन उसके लिये दुख का कारण होगा। इस प्रकार सुख दुख मनके धर्म है। जिन कारणों से सुख प्राप्त होता है, वे सुख के साधन कहे जाते हैं। प्रीति, प्रमोद, आनन्द, हर्ष, आमोद शर्म, मुदा, मोद, शिव ये सब सुख के पर्यायवाची शब्द हैं। वह सुख, सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होता है। उनमे सबसे पहिले सात्त्विक सुख को बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने त्रिविध सुखों के सम्बन्ध मे जिज्ञासा की, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! जैसे मैंने ज्ञान के, कर्ता के, कर्म के, बुद्धि तथा धृति के तीन-तीन भेद बताये हैं वैसे ही ज्ञान के भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद हैं। उनको तुम मुझसे श्रवण करो।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! सात्त्विक सुख के क्या लक्षण हैं ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, जिस सुख में अभ्यास के कारण रमण करता है और समस्त दुखों का अन्त हो जाता है वह सात्त्विक ज्ञान का कारण है।"

अर्जुन ने पूछा—"अभ्यास से रमण करने का क्या तात्पर्य है ?"

भगवान ने कहा—"देखो, संसारी सुख तो प्राप्त होते ही क्षण भर को सुख का अनुभव कराकर अन्त मे दुःख का कारण हो जाते हैं। जैसे हमने कोई स्वादिष्ट वस्तु खायी। तो जब तक वह जिह्वा से नीचे नहीं गयी तब तक तो सुख प्रतीत हुआ, जहाँ कंठ से नीचे गयी सुख समाप्त। फिर लालसा बढ़ने का दुःख रह जाता है। इसी प्रकार सुन्दर वस्तु को देखकर सुख होता है उसके ओझल हो जाने पर दुख। सुन्दर मधुर शब्द सुनने में सुखद, जहाँ उसकी समाप्ति हुई सुख समाप्त। ऐसे ही स्त्री प्रसंग, मलमूत्र विसर्जन, सुखद वस्तु का स्पर्श, ये आरम्भ में उसी क्षण सुखद प्रतीत होते हैं, पीछे परिणाम में दुखद ही होते है। किन्तु भजन, ध्यान, जप, समाधि आदि साधन, साधनकाल मे उतने सुखद प्रतीत नहीं होते। उनका दीर्घ काल तक सत्कार तथा श्रद्धापूर्वक निरन्तर अभ्यास किया जाय, उनसे अधिकाधिक परिचय बढ़ाया जाय, उनमे रमण किया जाय तभी वे सुखद प्रतीत होंगे। क्योंकि इन शुभकर्मों के निरन्तर अभ्यास से रजोगुण की समाप्ति हो जाती है। अभ्यास से शनैः शनैः मन प्रशान्त बन जाता है, वह भगवान् की ओर ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है साधन से ज्यों-ज्यों ब्रह्म के स्पर्श का अनुभव होने लगता है, त्यों-त्यों क्रमशः उसके सुख में वृद्धि होती जाती है। कारण कि ये संसारी विषयभोग क्षणिक सुख देने वाले परिणाम में दुःखद हैं। इन विषयों से तो उसने सर्वथा अपने मनको हटा ही लिया है। इनमें तो उसके

अन्तःकरण की आसक्ति रही ही नहीं। अब तो वह आत्मसुख की ओर बढने लगा है। ज्यों-ज्यों साधन की परिपक्वता होती जाती है त्यों-त्यों उसकी परितृप्ति होती जाती है उसे आन्तरिक सच्चे सुख की अनुभूति होती जाती है। धर्मादि जो सद्गुण हैं, ये ही साधक को मेरी ओर ले जाते हैं। इन सद्गुणों के पालन मे जो दृढता दिखाते हैं, उनके दुःखों का अन्त होने लगता है। यही अभ्यास से रमण करने का तात्पर्य है।"

अर्जुन ने पूछा—यह सात्त्विक सुख आरम्भ से ही ऐसा सुखद क्यों नहीं होता जैसा विषयजन्य सुख ?

भगवान् ने कहा—"विषयजन्य सुख ऐसे हैं जैसे अधिक गरिष्ट स्वादिष्ट पदार्थों को संग्रहणी वाला रोगी खा जाय। खाते समय तो उसे क्षण भर को जिह्वा का सुख होता है, किन्तु उसका परिणाम भयंकर होता है, उसका शरीर सूज जाता है, विरेचन होने लगता है। और भाँति-भाँति के अन्य क्लेश होने लगते हैं। किन्तु सात्त्विक सुख ऐसा है जैसे चिकित्सक रोगी से चिरकाल तक सयम करने को कहता है, तैल, मिरच, खटाई, गुड गरिष्ठ पदार्थों को खाने से रोकता है। कडवी बेस्वाद की खाने को औषधियाँ देता है। तौलकर पथ्य भोजन देता है। और इच्छा रहने पर भी माँगने पर भी अधिक भोजन नहीं देता। तो रोगी वैद्य तथा औषधि की प्रशसा सुनकर उस पर श्रद्धा रखकर उसकी बात मानता है, इस प्रकार चिरकाल तक संयम का भोजन, जिह्वा स्वाद की अपूर्ति, कडवी, कसैली बिना स्वाद की औषधियों के सेवन करने के कारण आरम्भ मे उसे कष्ट होता है। ये सब बातें विष के सदृश लगती हैं. किन्तु इसका परिणाम अमृतोपम होता है। चिरकाल तक अपथ्य पदार्थों से बचे रहने से पथ्य, हलका, आरोग्यप्रद भोजन करने से तथा नाना गुणकारी स्वादरहित

औषधियों से उसे आरोग्य लाभ हो जाता है, जो आरोग्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का मूल कारण है। आरोग्य लाभ करके वह परम सुखी हो जाता है। इसी प्रकार जब साधक सात्त्विक बुद्धि होने के कारण ज्ञान, वैराग्य, ध्यान समाधि, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजा-पाठ, जप-तप, व्रत तथा अन्यान्य शुभकर्मों में उनकी प्रशंसा सुनकर प्रवृत्त होता है, तो आरम्भ में तो उसे साधन और साधने में होने वाले व्याधि, स्त्यान, संशय, आलस्य, विरतभ्रांति, निद्रा, प्रमादादि के कारण महान क्लेश होता है, ये सब बातें उसे विष के सदृश प्रतीत होती हैं। किन्तु पुनः पुनः अनेक विघ्न बाधाओं के आने पर भी जो श्रद्धा विश्वास से दीर्घकाल तक निरन्तर साधनों में ही लगा रहता है, तो फिर उसे उस साधन में अनुराग होने लगता है। साधन में रस आने लगता है, उस साधन में बिना किये उसे सूना-सूना-सा प्रतीत होने लगता है। अभ्यास करते-करते ज्ञान वैराग्यादि का परिपाक हो जाने पर उसे अमृतोपम सुख की अनुभूति होने लगती है। फिर उसे आत्म विषयणि बुद्धि के प्रसाद का अनुपम सुख प्रतीत होने लगता है।

अर्जुन ने पूछा—"आत्मविषयिणी बुद्धि का प्रसाद क्या ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, यह अन्तःकरण निरन्तर के विषयों के संसर्ग से मलिन बन जाता है, जैसे चिरकाल तक धोया मला न जाय तो ताँबे पीतल के बर्तनों में मैल जम जाता है। जब उसे नीबू आदि खटाई से निरन्तर रगड़-रगड़कर धोया जाय, तो उसका मल दूर होकर बर्तन निर्मल स्वच्छ और चमकदार बन जाता है। इसी प्रकार विषयों के संसर्ग से मलिन हुआ अन्तःकरण जब निरन्तर की रगड़ रूप सत् साधनों के अभ्यास से स्वच्छ बन जाता है, तब वह मल रहित विशुद्ध हो जाता है। विशुद्ध अन्तःकरण में जिस सुख की प्रतीत होती है वही सुख आत्म

बुद्धि प्रसादज सुख कहलाता है। यही सात्त्विक सुख के लक्षण हैं। इससे सिद्ध हुआ, जो सुख निरन्तर के श्रद्धा संयमपूर्वक किये हुए सत् अभ्यास से प्राप्त होता हो, आरंभ में तो जो विष के सदृश प्रतीत होता हो, किन्तु परिणाम में सुधा के सदृश स्वादिष्ट लगने लगता हो और जो परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से पैदा हुआ हो वही सात्त्विक सुख कहा जायगा।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! मैंने सात्त्विक सुख के लक्षण तो जान लिये, अब मैं राजस और तामस सुखों के सम्बन्ध में भी जानना चाहता हूँ, कृपा करके राजस सुख और तामस सुखों की परिभाषा मुझे और बता दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने राजस, तामस सुखों की जिज्ञासा की, तब भगवान् ने जैसे उसे उनके लक्षण बताये, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा, आशा है आप समाहित चित्त से इस प्रसंग को सुनने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

यह सात्त्विक सुख प्रथम यदपि विष सरिस लखावै।
परि देखो परिणाम सुखद अति अमृत दिखावै॥
विषयनि को सुख छनिक अन्त ताकी अति दुख है।
है प्रसाद परमात्म भाव में वह यह सुख है॥
भरत-श्रेष्ठ! नर सात्त्विकी, जाई में प्रमुदित रहें।
आत्मा बुद्धि प्रसादयुत, सात्त्विक सुख जाकूँ कहें॥

राजस और तामस सुख

[२०]

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० ३८, ३९, ४० श्लो०)

छप्पय

इन्द्रिय सुखकूँ चहें विषय बिनु समरथ नाहीं।
विषय मिलें अनुकूल सुखी इन्द्रिय बनि जाहीं॥
इन्द्रिय विषय संजोग जनित जो सुख कहलावै।
पहिले अमृत समान फेरि विष-सो दिखलावै॥
भोग काल में प्रिय अधिक, दुःख होहि परिणाम में।
राजस सुख ताकूँ कहत, अरजुन! सुख नहिं काम में॥

---

* जो सुख विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से हुआ हो, वह पहिले तो अमृतोपम लगे, किन्तु परिणाम में विष के समान हो, वह राजस सुख कहा जाता है ॥३८॥

संसारी सुख और पारलौकिक सुख दो प्रकार के सुख हैं। परलोक भी है पहिले तो इस पर आस्था रखनी पड़ेगी। जो वस्तु आँखों से प्रत्यक्ष दीखती है, उस पर तो सभी आस्था रखते हैं। माला, चंदन, गुदगुदे, गद्दे सुंदर भोज्य पदार्थ, तांबूल वनिता, इत्र फुलेल आदि भोग पदार्थ प्रत्यक्ष दीखते हैं, इन्द्रियों से इन वस्तुओं का प्रत्यक्ष संग होने से इन्द्रियों के संयोग से मन को सुख की तत्क्षण अनुभूति होने लगती है, किन्तु परलोक तो प्रत्यक्ष दीखता नहीं। परलोक है इसके लिये तो वेद शास्त्र तथा आप्त पुरुषों के वचन ही प्रमाण हैं। उन वचनों को श्रद्धा पूर्वक मान कर ही परलोक के अस्तित्व पर आस्था की जा सकती है। इससे सिद्ध हुआ पारलौकिक सुख तो श्रद्धा के ऊपर अवलंबित है। किन्तु लौकिक सुख तो प्रत्यक्ष हैं, उनका अनुभव तो सभी को हो रहा है। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का कान, आँख जिह्वा, घ्राण तथा त्वचा इन इन्द्रियों से संयोग हुआ नहीं, कि तुरंत उसी क्षण सुख की अनुभूति होने लगती है। किन्तु इस सुख का परिणाम दुखद ही है।

संसारी विषयों का परिणाम यदि सुखद होता तो बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा विषय भोगों से परिपूर्ण महलों को, राज्यों को, छोड़कर वनों में क्यों भटकते फिरते।

एक राजा थे, वे भगवान् को पाना चाहते थे, किन्तु अपने

जो सुख पहिले भी और परिणाम में भी आत्मा को मोह में डालने वाला हो और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न हुआ हो उसे तामस सुख कहते हैं ॥३९॥

देखो, पृथ्वी में स्वर्ग में तथा देवताओं में भी ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो ॥४०॥

राज्य पाट, ससारी सुख-सुविधाओं को छोडना नहीं चाहते थे। एक दिन वे अपने सुसज्जित महलों की सबसे ऊँची अटारी पर सुंदर गुदगुदी शैया पर शयन कर रहे थे, सेकडों दास तथा दासियाँ सेवा में सलग्न थी। सुगधित इत्रों का छिडकाव हो रहा था, उसी समय सहसा एक साधु वहाँ आ गया। पहरे वालों ने उसे बहुत रोका भी ता भी वह चला ही आया, आकर वह चारों ओर खोजने लगा।

राजा ने पूछा—"तुम कौन हो ?"

साधु ने कहा—"आदमी हूँ।"

राजा ने पूछा—"यहाँ केसे आये ?"

साधु ने कहा—"मेरा एक ऊँट खो गया है, उसे ही खोज रहा हूँ।"

राजा ने कहा—"तुम पागल तो नहीं हो गये हो। अरे, ऊँट खो गया है, तो उसे वन में जगल मे खोजो। यहाँ इतने ऊँचे पर केसे चढ सकता है। यहाँ तुम्हें ऊँट का पता कैसे मिलेगा ?"

साधु ने कहा —"राजन्! तुम भी तो विषय भोगो मे भगवान् को खोज रहे हो। भला विषयों को भोगते भोगते भगवान् केसे मिल सकते हैं ? भगवान् की प्राप्ति के लिये तो विषयों को विष-वत् त्यागना ही होगा।"

जो अतःकरण विषय भोगो में फँसा है, जिसे ससारी विषयों की लालसा है, वह परमार्थ पर परलोक पर विश्वास केसे कर सकता है। ये ससारी विषय चाहें भूमि के हो अथवा स्वर्ग के हो, परिणाम मे दुखदायी ही होते हैं। जिन्होने चिरकाल तक ससारी सुख भोगे हैं, उनसे पूछो उन भोगों का परिणाम क्या हुआ ? तो वे यही कहेंगे हमारी तो अशाति और बढ गयी। महा-

राज ययाति चिरकाल तक विषयों के भोगने के अनंतर इसी परिणाम पर पहुँचे कि भोगो में शांति नहीं। यथार्थ सुख नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने राजसी, तामसी सुख के सम्बन्ध मे पूछा, तो भगवान् कहने लगे- "अर्जुन! विषय और इन्द्रियों के संयोग के कारण जो सुख होता है, उसे ही राजसी सुख कहते हैं। यह सुख आरभ मे-पहिले पहिल तो अमृत के सदृश लगता है। आरंभ मे तो बडा सुख प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम मे विष के सदृश दुखदायी सिद्ध होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"आगे अमृत के समान क्यों प्रतीत होता है?"

भगवान् ने कहा—"सूक्ष्म शरीर चैतन्यांश सहित जीव कहलाता है। इस जीव मे जन्म-जन्मान्तरो के भोग सस्कार निहित रहते हैं। इस जीव ने नाना योनियो मे विषय और इन्द्रियों के संयोग से संसारी सुख भोगे हैं। उन भोगों के सस्कार इसके अवशिष्ट हैं। भोगे हुए भोगो की अनुभूति सूक्ष्म रूप से इसके अन्तःकरण मे बनी हुई है। पैदा होते ही बच्चा माँ का स्तन खोजने लगता है। इन संस्कारो के वशीभूत होकर सम्मुख विषयों के आते ही इन्द्रियाँ व्याकुल हो जाती हैं। परस्पर में सयोग होते ही, पूर्व की अनुभूति जाग्रत हो उठती है, उसी से सुखानुभूति करता है। फिर उस समय पारलौकिक सुखों को भी तुच्छ समझने लगता है। वे सुख उसे अमृत से भी बढ़कर सुखद प्रतीत होते है।"

अर्जुन ने पूछा—"परिणाम मे विष की भाँति होने हैं, इसका क्या तात्पर्य है?"

भगवान् ने कहा—"विषयो के भोग का परिणाम तो दुखद होता ही है। स्वादिष्ट पदार्थों को अधिक खाओ तो अजीर्ण,

मंदाग्नि, अर्श, अतिसार, ग्रहणी तथा अन्यान्य उदर सम्बन्धी व्याधियाँ होती ही हैं। इसी प्रकार अधिक स्त्री प्रसंग से नाना भाँति के प्रमेहादि रोग होते हैं, प्रबल वासना होने से पाप कर्मों में प्रवृत्ति होती है, इसके परिणामस्वरूप नरकों की यातनायें भोगनी पड़ती हैं। अतः राजस भोग परिणाम में क्लेशकारक-दुख देने वाले- परलोक से भ्रष्ट बना देने वाले होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"तामस सुख के लक्षण क्या हैं ?"

भगवान् ने कहा -"देखो, सत्त्वगुण से होने वाला सुख आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है, राजस सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग होने से-इन्द्रियों के अनुकूल विषय मिलने के आह्लाद से-होता है, किन्तु तामस सुख निद्रा आलस्य और प्रमाद के कारण होता है। तमोगुण से प्रमाद, मोह, अज्ञान, निद्रा और आलस्य उत्पन्न होते हैं।

सात्त्विक सुख आरम्भ में विष के सदृश होता है, परिणाम में अमृत के तुल्य, राजस सुख इसके सर्वथा विपरीत आरम्भ में अमृतोपम होता है और परिणाम में विषमय होता है, किन्तु तामस सुख आरम्भ में चित्त के मोह के कारण ही होता है और उसका परिणाम भी मोह को बढ़ाने वाला होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"मोह क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो मोह ले, मन बुद्धि का मोहन करले उसे मोह कहते हैं। यह मोह बुद्धि का आवरण कर लेता है, ढक लेता है, ब्रह्माजी के अङ्गों से जैसे सद्गुण उत्पन्न हुए हैं वैसे ही उन सद्गुणों के मल स्वरूप ये दुर्गुण भी उन्हीं के अङ्गों से हुए हैं। जैसे ब्रह्माजी के अहंकार से मद हुआ है, उनके कण्ठ से प्रमोद हुआ है, नेत्रों से मृत्यु हुई है और उनकी बुद्धि से मल स्वरूप मोह हुआ है।

प्रत्येक भाव की नाड़ियाँ होती हैं, उन नाड़ियों का मस्तिष्क से सम्बन्ध होता है, अच्छे-बुरे भाव उन नाड़ियों के द्वारा ही मस्तिष्क मे आते हैं। कुछ संज्ञावह नाड़ियाँ होती हैं, जिनके द्वारा पुरुप को चेतना, संज्ञा, चेतनता होती है। उन संज्ञावह नाड़ियों मे सहसा वायु रुक जाती है। वात, पित्त, कफ तथा अन्य समस्त धातुएँ जो शरीर में घूमती रहती हैं, वे नाड़ियो के के द्वारा ही चक्कर लगाती हैं, ये समस्त धातुएँ स्वयं चलने मे असमर्थ होती हैं, सबकी सब पंगु होती हैं, केवल वायु ही ऐसा है, जो सब धातुओ को घुमाता रहता है। तो जो संज्ञावह–चेतना को सम्पूर्ण शरीर मे पहुँचाने वाली नाड़ियाँ हैं, जब उनमें वायु अवरुद्ध हो जाती है, तब वहाँ तमोगुण बढ़ जाता है। तमोगुण के कारण वे नाड़ियाँ स्तब्ध हो जाती हैं, उस समय सुख दुख की प्रतीति नहीं होती, एक प्रकार की जड़ता आ जाती है, उसी जड़ता का नाम मोह है।

जैसे कोई पुरुप वृक्ष से या अन्य ऊँचे स्थान से गिर गया। गिरने से उसकी संज्ञावह नाड़ियाँ स्तब्ध हो गयीं, उनमे वात का सचार होना बन्द हो गया, तो उसे तमोगुण की वृद्धि के कारण मूर्छा आ जाती है, उसी मूर्छा का नाम मोह है। यह मोह इतने कारणो से होता है। १. अज्ञान से—बुद्धि का जो धर्म सद्-असद् का विवेक है, उस बुद्धि पर जब तमोगुण का पर्दा पड़ जाता है, तो उससे मोह हो जाता है, फिर सत्-असत् का विचार नही रहता।

२. निद्रा से—अन्तःकरण जब ज्ञान सहित हृदय मे विलीन हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं। क्योंकि यह सत्त्व प्रधान होती है। ज्ञान के सहित विलय है, इसलिये यह सत्त्व प्रधान है। वही मन जब हृदय कमल में अज्ञान के सहित लीन होता

है तो उसी का नाम निद्रा है। हृदय का जो कमल है, वह जाग्रत अवस्था में तो विकसित रहता है, निद्रा अवस्था में वह बन्द हो जाता है। वह अधोमुख रहता है। जब कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है, प्राण सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगामी हो जाता है, तब हृदयकमल का मुख ऊपर की ओर हो जाता है। ज्ञान सहित अन्तःकरण उसमें विलीन हो जाता है, उस समय समाधि का अपूर्व सुख प्राणी को होता है, किन्तु तमोगुण की वृद्धि से जब अज्ञान सहित मन उसमें प्रवेश करता है, तब उस हृदयकमल का मुख बन्द हो जाता है, यही जाग्रत से भिन्न निद्रावस्था है। उसमें संज्ञावह स्रोतों में श्लेष्म बढ जाता है, तमोगुण की वृद्धि हो जाती है, वायु रुद्ध हो जाती है, चेतना शून्य सी-हो जाती है। शरीर की सुधि नहीं रहती। यह निद्रा तमोगुणी पुरुषों को दिन में तथा रात्रि में भी बहुत आती है, जो रजोगुणी हैं उन्हें निमित्त के बिना नहीं आती। रात्रि में अधिक जागे, अधिक श्रम किया तो दिन में निद्रा आ जाती है नहीं तो उन्हें रात्रि में ही निद्रा आती है। जो सत्त्वगुण प्रधान हैं उन्हें अर्ध रात्रि में कुछ काल को निद्रा आती है। जिनका श्लेष्म क्षीण हो गया है, प्राणायाम से जिन्होंने वायु बढ़ाने का अभ्यास कर लिया है, उन्हें तमोगुणी निद्रा आती ही नहीं है, ऐसे मन और शरीर का संयम करने वाले संयमियों को निद्रा न आने से कोई हानि भी नहीं होती।

निद्रा सदा तम के कारण हुआ करती है। इसी निद्रा को शयन, स्वाप, स्वप्न तथा संवेश भी कहते हैं। निद्रा से भी मोह होता है।

३. आलस्य से—आलस्य कहते हैं अलसाने को। न जाग्रत न स्वप्न सुषुप्ति। जाग्रत और स्वप्न के बीच की अवस्था का नाम

आलस्य है, इसे तन्द्रा भी कहते हैं। यह आलस्य श्रम करने से होता है, शारीरिक श्रम न भी हो तो मानसिक श्रम से जो एक प्रकार की जड़ता सी आ जाती है। जँभाई आने लगती है, शरीर टूटने-सा लगता है, चित्त चाहता है, सुखद वस्तु का स्पर्श करते हुए पड़े रहे काम करने की सामर्थ्य रहते हुए भी काम करने की इच्छा न रहना, शरीर को दुःख न उठाना पड़े, केवल सुख पूर्वक पड़े रहें। इसी अवस्था का नाम आलस्य है। यह मोह जन्य होती है।

४. प्रमाद से—प्रमाद कहते है, अनवधानता को। अपने कर्तव्य कर्म मे सावधान न रहना। प्रमाद सदा तमोगुण से होता है यह भी मोह का लक्षण है।

५. मादक द्रव्य सेवन से—सुरा, अफीम, भाँग, गाँजा आदि जो मद करने वाली वस्तुएँ हैं उनसे भी जड़ता आ जाती है। शरीर मे एक प्रकार की स्फूर्ति सी तो प्रतीत होने लगती है, किन्तु बुद्धि के ऊपर एक प्रकार का आवरण छा जाता है, अतः यह भी मोह जनित है। अतः परमार्थ पथ के पथिकों को इन मोह जन्य कार्यों से बचते रहना चाहिये। ये सभी कारण चित्त में मोह डालने वाले हैं। वैसे निद्रा में भी एक प्रकार का अपूर्व सुख होता है, आलस्य में भी बड़ी मीठी-मीठी सुखानुभूति होती है, और प्रमाद का तो कहना ही क्या चित्त प्रमत्त होकर नाचने लगता है। अज्ञान में भी एक प्रकार का सुख होता है। किन्तु ये सुख आरम्भ में भी चित्त को मोह मे डालने वाले होते है और इनका अन्तिम परिणाम भी मोह जनक ही होता है। अतः इसे आरम्भ तथा परिणाम में मोहक कहा है।

अर्जुन ने कहा—"आरम्भ तथा परिणाम मे मोहक कैसे है तमोगुणी सुख ?

भगवान् ने कहा—"सुख की अनुभूति अन्तःकरण से होती है। सुख दुख का अनुभव मन से ही होता है। जैसे ऊपर से गिरने से मूर्छा आ गयी या अधिक सुरा आदि मादक पदार्थ पान करने से अचेतना हो गयी, या निद्रा आने पर सो गये। इन अवस्थाओं में जब तक मूर्छा रही, या मद रहा अथवा निद्रित अवस्था रही, तब तक एक प्रकार का अचेतन्य जनक सुख तो प्रतीत हुआ, किन्तु अन्तःकरण को मोहित करके हुआ। अन्तः करण से न तो यह सुख स्पर्श हुआ न अन्तःकरणने इसकी अधिक अनुभूति की।

निद्रा में या मद में होता क्या है, श्रम जनित जो शैथल्यता है, उसके अभाव जन्य सुख की अनुभूति होती है। साक्षात् सुख नहीं होता। निद्रा न आवे तो दुख होता है। जो लोग चिन्ता ग्रस्त रहते हैं, उन्हें निद्रा नहीं आती। दरिद्र को सदा अपने अभावों की चिन्ता बनी रहती है। बहुत धनिकों को धन अर्जन, रक्षण की चिन्ता बनी रहती है, सेवक को स्वामी की सेवा की सदा चिन्ता बनी रहती है, कामी पुरुषों को इच्छित कामिनी की चिन्ता कष्ट देती रहती है, ऐसे लोगों को निद्रा नहीं आती। इन लोगों को निद्रा आ जाय तो चिंता जनित दुःख दूर हो जाय। अनिद्रा के रोगियों को भी नींद नहीं आती। जो भारी ऋण से दबे हुए होते हैं, उन्हें भी चिन्ता के कारण नींद नहीं आती। जो किसी से भयभीत रहते हैं, उन्हें भी भय के कारण नींद नहीं आती। इनके ये भय दुःख हट जायँ से ऋणी का ऋण चुक जाय, वह ऋण मुक्त हो जाय, विवाह योग्य कन्या का भली भाँति विवाह हो जाय, रोगी का रोग नाश हो जाय तथा भयभीत का भय छूट जाय, तो इन लोगों को गहरी निद्रा आ जायगी। उन्हें एक तामसिक आनन्द की अनुभूति होगी। क्योंकि निद्रा स्वयं

मोहने वाली है और जो निद्रा, आलस्य प्रमाद तथा मोह अहंकार वाले तामसी हैं मरकर वृक्ष आदि घोर तमोगुणी योनियो मे जाते हैं। अतः यह आरम्भ मे भी चित्त को मोह मे डालने वाला सुख है और मरकर घोर मोह मयी वृक्ष योनियो को देने वाला है। इसीलिये शास्त्रकारो ने एक वृक्ष का रूपक बाँधा है। इस मोह रूप वृक्ष का सेवन करने वाले का अवश्य पतन होता है। कैसा है यह वृक्ष—

इस मोह रूप पाप वृक्ष का बीज क्या है ? लोभ। मोह इस पाप वृक्ष की मूल है, जड़ें हैं। असत्य इसका स्कन्ध–तना–है। माया शाखायें हैं, माया के कारण ही यह अत्यन्त विस्तृत बन गया है। दम्भ और कुटिलता आदि इसके पत्ते हैं। कुकृत्य ही फूल हैं, पिशुनता इन फूलों की सुगन्धि है। अज्ञान फल है। छद्म, पाखण्ड, स्तेय, क्रूरता, पाप ये इस पर रहने वाले चोर पापी पक्षी हैं। यह पापरूपी मोह वृक्ष माया की शाखाओं से बहुत बड़ा हो गया है। इसके अज्ञान रूप जो फल है उनमे अधर्म का जो परिणाम है दुःख, वही उन फलो का रस है। इस वृक्ष को भाव रूपी जल दे-देकर बढ़ाया गया है। इसकी अधर्म रूपी जो वायु है उसके द्वारा क्लेद से ये फल मीठे होते है। यह लोभ वृक्ष है। इस वृक्ष की छाया मे रहकर जो इसके पके-पके फलों को सदा खाता है और इन फलों का जो अधर्म रस है उसके द्वारा पुष्ट होता है, वह पतन के गर्त मे गिर कर पतित हो जाता है। अतः श्रेयस्कामी को पतनशील इस मोह वृक्ष से सदा बचते रहना चाहिये। इस पाप वृक्ष की छाया मे कभी नहीं जाना चाहिये। रजोगुण और तमोगुण को छोड़कर सत्त्व गुण का ही आश्रय लेना चाहिये।

भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन ! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप

मे सांख्य मत का सार तुम्हें बता दिया इसी प्रसंग मे मैंने तुम्हें सत्त्व, रज, तथा तम इन तीन गुणों के कार्यों के लक्षण भी समझा दिये अब तुम मुझसे और क्या सुनना चाहते हो ?"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आपने जो इन मुख्य पदार्थों के तीन-तीन भेद बताये, इससे तो प्रतीत होता है कि सभी के तीन-तीन भेद होते होंगे, क्या कोई ऐसा भी पदार्थ है, जो इन तीनों गुणों से रहित हो। जिसमे इन तीनों गुणों का तनिक भी अंश न हो ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! पृथ्वी की तथा पृथ्वी के प्राणियों की तो बात छोड दो, अजी, आकाश मे, स्वर्ग मे स्वर्गीय देवताओं मे से कोई भी प्राणी या पदार्थ ऐसा नहीं है जो प्रकृति जनित सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से रहित हो। सर्वत्र त्रिगुणों का ही मेला है, सर्वत्र इन्हीं गुणों का खेला है, इन्हीं तीनों मे परस्पर में ठेलम ठेला है। एक मात्र ब्रह्म ही अकेला है। सो तुम इन तीनों गुणों से ऊपर उठकर निस्त्रैगुण्य होने का प्रयत्न करो।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! मैं गुणातीत कैसे बन सकूँगा। आपने जो यह केवल विवेक विचार वाला सांख्य मार्ग बताया, यह तो मेरे लिये अत्यन्त ही कठिन है। जीव को स्वाभाविक प्रवृत्ति कर्मों मे ही है, बिना कर्म किये कोई प्राणी क्षण भर भी रह नहीं सकता। आपने तो यह सांख्य मार्ग, ज्ञान मार्ग, त्याग मार्ग, संन्यास मार्ग विचार मार्ग बताया। इस मार्ग में कर्मों का आदर नहीं, इसमे तो सदा विवेक विचार करते हुए वैराग्य वृति धारण करके त्याग मार्ग का अवलम्बन ही मुख्य है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग मेरे लिये बताइये।"

भगवान् ने कहा—"हाँ एक दूसरा कर्म मार्ग भी है। जिनमें

शम, दम, तप, तितिक्षा, उपरति, ज्ञान वैराग्य की न्यूनता हो, कर्मों में ही प्रवृत्ति हो, उनके लिये प्रवृत्ति मार्ग भी है, जिसे कर्म मार्ग अथवा वर्णाश्रम धर्म मार्ग कहते हैं। इसमें क्रमशः कर्म करते-करते निष्कर्मण्यता को प्राप्त कर सकते हैं। अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप कर्म करते-करते अन्त में संन्यास तक पहुँच सकते है। इस मार्ग में सब काम क्रमशः अवश्य कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं। अतः इसे क्रम मार्ग भी कहते हैं। इस मार्ग मे ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के, वैश्यों तथा शूद्रों के सभी वर्णों के स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण कर्म पृथक्-पृथक् विभक्त किये गये हैं।"

अर्जुन ने कहा –"तो भगवन्! अब आप मुझे कर्म मार्ग अर्थात् वर्णाश्रम धर्म मार्ग का ही उपदेश करें। सभी वर्णों के पृथक्-पृथक् कर्तव्य कर्मों को बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान अर्जुन को वर्णाश्रम धर्म कर्म मार्ग का उपदेश करेंगे, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आपसे आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

भोग काल में नहीं देहि सुख अतिशय समुचित।
करे भोग परिणाम माहिं आत्मा कूँ मोहित॥
निद्रा तें सुख होहि कहा वह सुख है भाई।
आलस में नित परे रहत अति लेत जम्हाई॥
अरु प्रमाद उत्पन्न सुख, तामस सुख ताकूँ कहें।
जो जन अति ही तामसी, ताई में डूबे रहें॥

जग के जितने जीव त्रिगुन सब ही देहिनि में।
काहू में है अधिक न्यून प्रानी बहुतनि में॥
सब पृथिवी में फिरो सबनि की खोज कराओ।
देवलोक नभ माँहि त्रिगुन तें रहित न पाओ॥
यह जग सगरो त्रिगुनमय, प्रकृति-पुत्र ये तीन गुन।
कोइ न इनितें मुक्त जग, अरजुन! मेरी सीख सुन॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये!

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्‌भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्‌भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ८) हैं। दूसरा खड प्रेस मे है।

॥श्रीहरिः॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—८१ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.६५ पैसे डाकव्यय पृथक।
२–श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६.५०
३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डों में)— एक खण्ड का मू० ८.००
४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००
५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०सं० ३५० मू० ३.४५
६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २.५०
७–कृष्ण चरित—पृ० सं० लगभग ३५० मू० २.५०
८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०
९–गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.५०
१०–श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डों में)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०
११–नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.६०
१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.६५
१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१
१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१
१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण, मू० ०.३१
१६–भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१
१७–राघवेन्दु चरित—पृ० सं० लगभग १६० मू० ०.४०
१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१
१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ०.२०
२०–भक्तचरितावली प्रथम खंड मू० ४.०० द्वितीय खंड मू० २.५०
२१–सत्यनारायण की कथा —छप्पय छन्दों सहित मू० ०.७५
२२–प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० २६–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५
२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ २७–श्री हनुमत-शतक— मू० ०.५०
२४–सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २८–रासपंचाध्यायी— अमूल्य
२५–महावीर [illegible] मू० [illegible] २९–छप्पय शतकत्रय (प्रेस में)